विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक ७ जुलाई २००१ मूल्य रु. ५.००
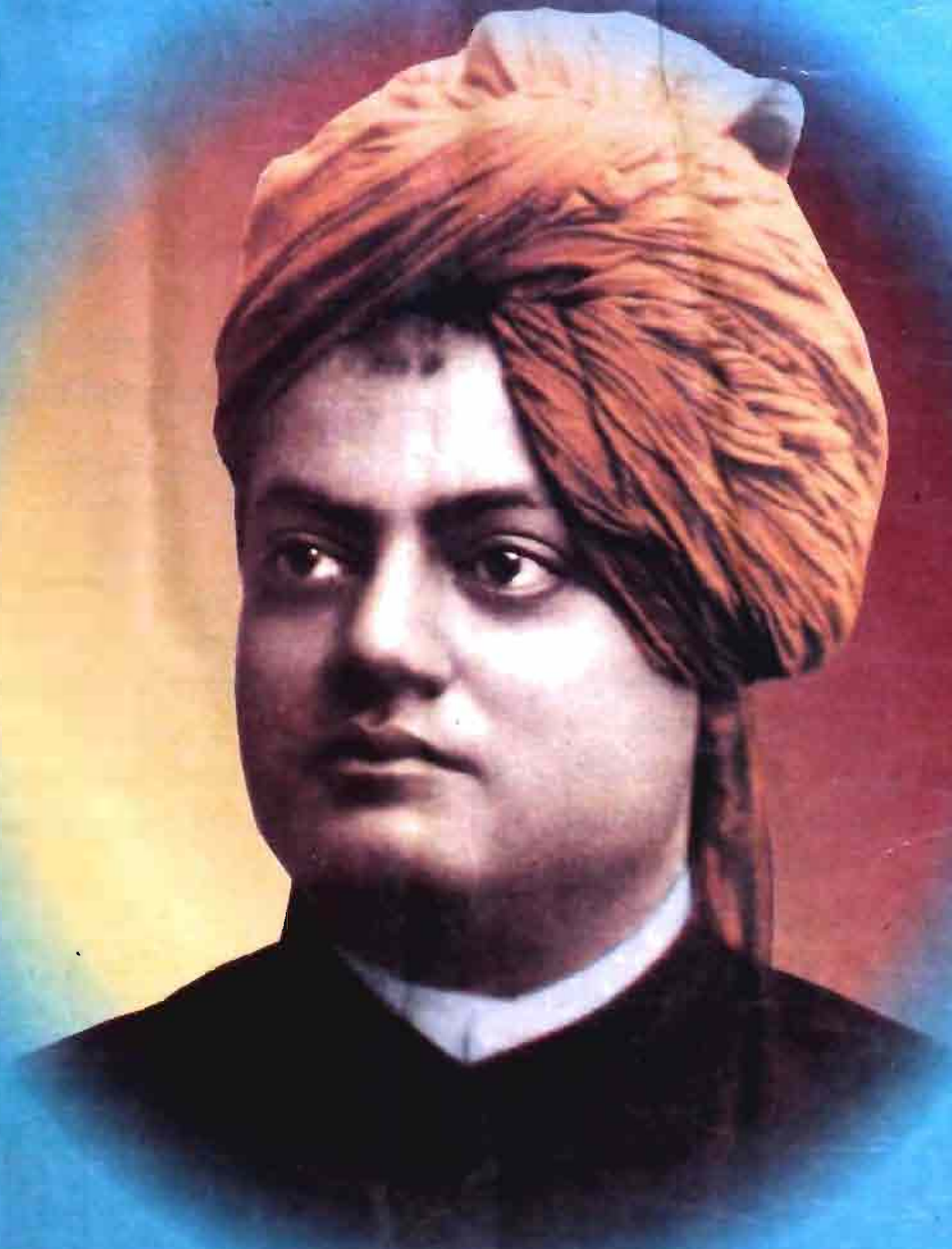
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)
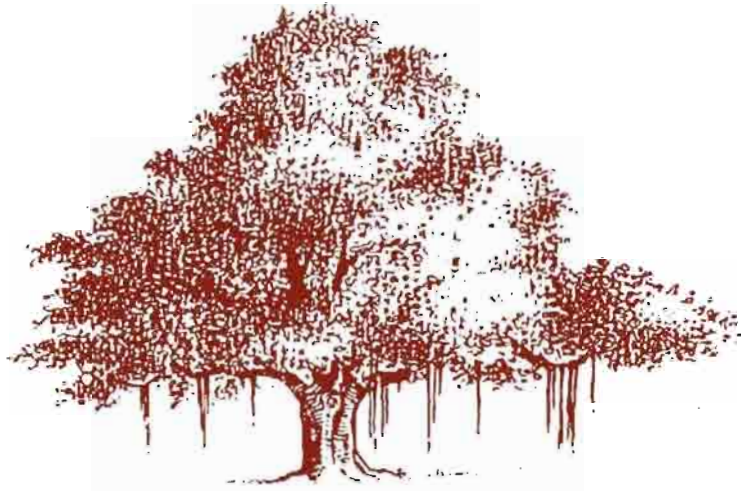
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक ७

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. ७००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर

(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यो तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस सयत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

नीति-शतकम्

यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ॥३७॥

अन्वयः – यत् अचेतनः अपि इनकान्तः सवितुः पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति, तत् तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते?

भावार्थ – सूर्यकान्त मणि जब अचेतन होकर भी सूर्य द्वारा चरणों से स्पर्श किये जाने पर (कुपित होकर) प्रज्वलित हो उठता है, तो फिर तेजस्वी व्यक्ति दूसरों द्वारा किया अपमान भला कैसे सहन कर सकता है?

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु ।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ॥३८॥

अन्वयः – शिशु अपि सिंहः मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु निपतति, सत्त्ववताम् इयं प्रकृतिः (भवति) खलु वयः तेजसः हेतुः न ।

भावार्थ – सिंह का बच्चा भी हो, तो वह मदस्राव से काले हो रहे मस्तकवाले हाथी पर चढ़ बैठता है; निश्चित रूप से पराक्रमशालियों का स्वभाव ही ऐसा है, कम आयु होने से उनके तेज में कमी नहीं होती।

जातिर्यातु रसातलं गुणगणैस्तत्राप्यधो गम्यतां
शीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥३९॥

अन्वयः – जातिः रसातलं यातु, गुणगणैः तत्र अपि अधः गम्यताम्, शीलं शैलतटात् पततु, अभिजनः वह्निना सन्दह्यताम्, वैरिणि शौर्ये आशु वज्रं निपततु, अर्थः नः केवलम् अस्तु, येन एकेन विना इमे समस्ताः गुणाः तृणलवप्रायाः ।

भावार्थ – जाति चाहे रसातल को चली जाय, गुणों का समूह उसके भी नीचे चला जाय, सदाचार पर्वत के किनारे से गिर जाय, उच्च वंश अग्नि में जल जाय, शौर्य रूपी वैरी पर शीघ्र ही वज्रपात हो जाय, परन्तु हमारे पास एकमात्र धन ही हो, क्योकि इस एक के बिना ये सारे गुण घास के तिनके के समान हो जाते हैं।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

धरा पर उतरे हैं भगवान ।
वितरण करते मुक्त करों से,
अभय और वरदान ।।

धर्म प्रतिष्ठा होगी जग में,
जागेगी चेतना सभी में,
नवालोक दे दूर करेंगे,
अन्धकार अज्ञान ।।

सत्युग का फिर हुआ आगमन,
काम क्रोध का होगा प्रशमन,
प्राची में रवि उदित हुआ है,
गाओ मंगल गान ।।

– २ –

रसना, रामकृष्ण ही जपना ।
क्षणभंगुर संसृति-प्रवाह में,
और नहीं कुछ अपना ।।

खाद्य पेय जो सारे व्यंजन,
करते रहते चित का रंजन,
रह जायेंगे धरे यहीं पर,
ज्यों पल भर का सपना ।।

रसमय परम नाम है प्रभु का,
निशिदिन पान करो अब इसका,
धन्य करो निज जीवन, छोड़ो
रोना और कलपना ।।

लो मंगलमय आश्रय उनका,
कर डालो क्षय भवबन्धन का,
विषयों के लालच में पड़ क्यों,
भवज्वाला में तपना ।।

– *विदेह*

व्यक्तित्व का विकास (३)

स्वामी विवेकानन्द

(व्यक्तित्व का विकास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है और आज के युग में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। मैसूर के रामकृष्ण आश्रम से स्वामीजी के व्यक्तित्व-निर्माण विषयक उक्तियों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है। यहाँ पर हम उसी पुस्तिका की भूमिका तथा अनुवाद का क्रमशः प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

चरित्र में बदलाव कैसे लायें?

हमारा प्रत्येक कार्य, हमारा प्रत्येक अंग-संचालन, हमारा प्रत्येक विचार हमारे चित्त पर एक प्रकार का संस्कार छोड़ जाता है; और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से स्पष्ट न हों, तथापि ये अवचेतन रूप से अन्दर-ही-अन्दर कार्य करने में पर्याप्त समर्थ होते हैं। हम प्रति मुहूर्त जो कुछ होते हैं, वह इन संस्कारों के समुदाय द्वारा ही निर्धारित होता है। मैं इस मुहूर्त जो कुछ हूँ, वह मेरे अतीत जीवन के समस्त संस्कारों का प्रभाव है। यथार्थतः इसे ही 'चरित्र' कहते हैं और प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि द्वारा ही नियमित होता है। यदि भले संस्कारों का प्राबल्य रहे, तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है और यदि बुरे संस्कारों का प्राबल्य हो, तो बुरा। यदि एक मनुष्य निरन्तर बुरे शब्द सुनता रहे, बुरे विचार सोचता रहे, बुरे कर्म करता रहे, तो उसका मन भी बुरे संस्कारों से पूर्ण हो जायेगा और बिना उसके जाने ही वे संस्कार उसके समस्त विचारों तथा कार्यों पर अपना प्रभाव डालते रहेंगे। वास्तव में ये बुरे संस्कार निरन्तर अपना कार्य करते रहते हैं। अतः बुरे संस्कार-सम्पन्न होने के कारण उस व्यक्ति के कार्य भी बुरे होंगे – वह एक बुरा आदमी बन जायेगा, वह इससे बच नहीं सकता। इन संस्कारों की समष्टि उसमें दुष्कर्म करने की प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न कर देगी। वह इन संस्कारों के हाथ एक यंत्र-सा होकर रह जायेगा, वे उसे बलपूर्वक दुष्कर्म करने के लिए बाध्य करेंगे। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य अच्छे विचार रखे और सत्कार्य करे, तो उसके इन संस्कारों का प्रभाव भी अच्छा ही होगा तथा उसकी इच्छा न होते हुए भी वे उसे सत्कार्य करने के लिए प्रवृत्त करेंगे। जब मनुष्य इतने सत्कार्य एवं सच्चिन्तन कर चुकता है कि उसकी इच्छा न होते हुए भी उसमें सत्कार्य करने की एक अनिवार्य प्रवृति उत्पन्न हो जाती है, तब फिर यदि वह दुष्कर्म करना भी चाहे, तो इन सब संस्कारों की समष्टि रूप से उसका मन उसे ऐसा करने से तुरन्त रोक देगा; इतना ही नहीं, वरन् उसके ये संस्कार उसे मार्ग से लौटा देंगे, तब वह अपने भले संस्कारों के हाथ एक कठपुतली जैसा हो जायेगा। जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तभी उस मनुष्य का चरित्र स्थिर कहलाता है।[१३]

यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो। हर मूर्ख किसी विशेष अवसर पर बहादुर बन सकता है। मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जाँच करो और असल में वे ही ऐसी बातें हैं, जिनसे तुम्हें एक महान् पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटे-से-छोटे मनुष्य को भी किसी-न-किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव में महान् तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् तथा सम रहता है।[१४]

संसार में हम जो सब कार्य-कलाप देखते हैं, मानव-समाज में जो सब गति हो रही है, हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है, वह सब मन की ही अभिव्यक्ति है – मनुष्य की इच्छा-शक्ति का ही प्रकाश है। कलें, यंत्र, नगर, जहाज, युद्धपोत आदि सभी मनुष्य की इच्छाशक्ति के विकास मात्र हैं। मनुष्य की यह इच्छाशक्ति चरित्र से उत्पन्न होती है और वह चरित्र कर्मों से गठित होता है। अतः जैसा कर्म होता है, इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति भी वैसी ही होती है। संसार में प्रबल इच्छाशक्ति-सम्पन्न जितने महापुरुष हुए हैं, वे सभी धुरन्धर कर्मी दिग्गज आत्मा थे। उनकी इच्छाशक्ति ऐसी जबरदस्त थी कि वे संसार को भी उलट-पुलट सकते थे। और यह शक्ति उन्हें युग-युगान्तर तक निरन्तर कर्म करते रहने से प्राप्त हुई थी।[१५]

हम अभी जो कुछ हैं, वह सब अपने चिन्तन का ही फल है। इसलिए तुम क्या चिन्तन करते हो, इसका विशेष ध्यान रखो। शब्द तो गौण वस्तु है। चिन्तन ही बहु-काल-स्थायी है और उसकी गति भी बहु-दूर-व्यापी है। हम जो कुछ चिन्तन करते हैं, उसमें हमारे चरित्र की छाप लग जाती है; इस कारण साधु-पुरुषों की हँसी या गाली में भी उनके हृदय का प्रेम तथा पवित्रता रहती है और उससे हमारा मंगल ही होता है।[१६]

बड़े काम में बहुत समय तक लगातार और महान् प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यदि थोड़े-से व्यक्ति असफल भी हो जायँ, तो भी उसकी चिन्ता हमें नहीं करनी चाहिए। संसार का यह नियम ही है कि अनेक लोग नीचे गिरते हैं, कितने ही दुःख आते हैं, कितनी ही भयंकर कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होती हैं, स्वार्थपरता तथा अन्य बुराइयों का मानव-हृदय में घोर संघर्ष होता है। और तभी आध्यात्मिकता की अग्नि से इन सभी का विनाश होनेवाला होता है। इस जगत् में भलाई का मार्ग सबसे दुर्गम तथा पथरीला है। आश्चर्य की बात है कि इतने लोग सफलता प्राप्त करते हैं, कितने लोग असफल होते

हैं, इसमें आश्चर्य नहीं। हजारों ठोकरें खाने के बाद चरित्र का गठन होता है।[१७]

इस वैराग्य को प्राप्त करने के लिए यह विशेष रूप से आवश्यक है कि मन निर्मल, सत् और विवेकशील हो। अभ्यास करने की आवश्यकता क्या है? प्रत्येक कार्य से मानो चित्तरूपी सरोवर के ऊपर एक तरंग खेल जाती है। यह कम्पन कुछ समय बाद नष्ट हो जाता है। फिर क्या शेष रहता है? – केवल संस्कार-समूह। मन में ऐसे बहुत-से संस्कार पड़ने पर वे इकट्ठे होकर आदत के रूप में परिणत हो जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि 'आदत ही द्वितीय स्वभाव है'। केवल द्वितीय स्वभाव ही नहीं, वरन् वह 'प्रथम' स्वभाव भी हैं – मनुष्य का समस्त स्वभाव इस आदत पर निर्भर रहता है। हमारा अभी जो स्वभाव है, वह पूर्व अभ्यास का फल है। यह जान सकने से कि सब कुछ अभ्यास का ही फल है, मन में शान्ति मिलती है; क्योंकि यदि हमारा वर्तमान स्वभाव केवल अभ्यासवश हुआ हो, तो हम चाहें तो किसी भी समय उसे नष्ट भी कर सकते है। हमारे मन में जो विचार-धाराएँ बह जाती हैं, उनमें से प्रत्येक अपना एक एक चिह्न या संस्कार छोड़ जाती है। हमारा चरित्र इन सब संस्कारों की समष्टि-स्वरूप है। जब कोई विशेष वृत्ति-प्रवाह प्रबल होता है, तब मनुष्य उसी प्रकार का हो जाता है। जब सद्गुण प्रबल होता है, तब मनुष्य सत् हो जाता है। यदि बुरा भाव प्रबल हो, तो मनुष्य बुरा हो जाता है। यदि आनन्द का भाव प्रबल हो, तो मनुष्य सुखी होता है। बुरे अभ्यास का एकमात्र प्रतिकार है – उसका विपरीत अभ्यास। हमारे चित्त में जितने बुरे अभ्यास संस्कारबद्ध हो गये हैं, उन्हें अच्छे अभ्यास द्वारा नष्ट करना होगा। केवल सत् कार्य करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; बुरे संस्कारों को रोकने का बस यही एक उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक के उद्धार की कोई आशा नहीं है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का – कुछ अभ्यासों की समष्टि का द्योतक मात्र है और ये अभ्यास नये और सत् अभ्यास से दूर किये जा सकते हैं। चरित्र बस, बारम्बार अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस प्रकार का पुन: पुन: अभ्यास ही चरित्र का सुधार कर सकता है।[१८]

संसार का त्याग करो। इस समय हम लोग मानो कुत्तों के समान हैं – रसोईघर में घुस गये हैं, मांस का एक टुकड़ा खा रहे हैं और भय के मारे इधर-उधर देख भी रहे हैं कि कोई पीछे से आकर मारना न शुरू कर दे। वैसा न होकर राजा के समान बनो – समझ रखो, समग्र जगत् तुम्हारा है। ऐसा तब तक नहीं होता जब तक तुम संसार का त्याग नहीं कर देते और यह तुम्हें बाँध नहीं पाता। यदि बाहर से त्याग नहीं कर पाते हो, तो मन-ही-मन सब त्याग दो। अपने अन्तर-हृदय से सब त्याग दो। वैराग्य-युक्त हो जाओ। यही यथार्थ आत्मत्याग है और इसके बिना धर्मलाभ असम्भव है। किसी प्रकार की इच्छा मत करो; क्योंकि जो इच्छा करोगे, वही पाओगे। और वही तुम्हारे भयानक बन्धन का कारण होगी।[१९]

विचारों का प्रभाव

जिस प्रकार हमारा प्रत्येक कार्य प्रतिक्रिया के रूप में हमारे पास वापस आ जाता है, उसी प्रकार हमारे कार्य दूसरे व्यक्तियो पर तथा उनके कार्य हमारे ऊपर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। शायद तुम सबने एक तथ्य के रूप में ऐसा देखा होगा कि जब मनुष्य कोई बुरे कार्य करता है, तो क्रमश: वह अधिकाधिक बुरा बनता जाता है, और इसी प्रकार जब वह अच्छे कार्य करने लगता है, तो दिनों-दिन सबल होता जाता है और उसकी प्रवृत्ति सदैव सत्कार्य करने की ओर झुकती जाती है। कर्म के प्रभाव के तीव्र होते जाने की व्याख्या केवल एक ही प्रकार से हो सकती है, और वह यह कि हम एक दूसरे मन पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर सकते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिये हम भौतिक विज्ञान से एक दृष्टान्त ले सकते हैं। जब मैं कोई कार्य करता हूँ, तो कहा जा सकता है कि मेरा मन एक विशिष्ट प्रकार की कम्पनावस्था में होता है; उस समय अन्य जितने मन उस प्रकार की अवस्था में होंगे, उनकी प्रवृत्ति यह होगी कि वे मेरे मन से प्रभावित हो जायँ। यदि एक कमरे में भिन्न-भिन्न वाद्य-यन्त्र एक सुर में बाँध दिये जायँ, तो तुम सबने देखा होगा कि एक को छेड़ने से अन्य सभी की प्रवृत्ति उसी प्रकार का सुर निकालने की होने लगती है। इसी प्रकार जो जो मन एक सुर में बँधे हैं, उन सबके ऊपर एक विशेष विचार का समान प्रभाव पड़ेगा। हाँ, यह सत्य है कि विचार का मन पर यह प्रभाव दूरी अथवा अन्य कारणो से न्यूनाधिक अवश्य हो जायेगा, परन्तु मन पर प्रभाव होने की सम्भावना सदैव बनी रहेगी। मान लो, मैं एक बुरा कार्य कर रहा हूँ। उस समय मेरे मन में एक विशेष प्रकार का कम्पन होगा और संसार के अन्य सब मन, जो उसी प्रकार की स्थिति में हैं, सम्भवत: मेरे मन के कम्पन से प्रभावित हो जायेंगे। इसी प्रकार, जब मैं कोई अच्छा कार्य करता हूँ, तो मेरे मन में एक दूसरे प्रकार का कम्पन होता है और उस प्रकार के कम्पनशील सारे मन पर मेरे मन के प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है। एक मन का दूसरे मन पर यह प्रभाव तनाव की न्यूनाधिक शक्ति के अनुसार कम या अधिक हुआ करता है।[२०]

इस उपमा को यदि हम कुछ और आगे ले जायँ, तो कह सकते हैं कि जिस प्रकार कभी कभी आलोक-तरंगों को किसी गन्तव्य वस्तु तक पहुँचाने में लाखों वर्ष लग जाते हैं, उसी प्रकार विचार-तरंगों को भी किसी ऐसे पदार्थ तक पहुँचने में, जिसके साथ वे तदाकार होकर स्पन्दित हो सकें, कभी कभी सैकड़ों वर्ष तक लग सकते हैं। अतएव यह नितान्त सम्भव है कि हमारा यह वायुमण्डल अच्छी और बुरी, दोनों प्रकार की

विचार-तरंगों से व्याप्त हो। प्रत्येक मस्तिष्क से निकला हुआ प्रत्येक विचार योग्य आधार प्राप्त हो जाने तक मानो इसी प्रकार भ्रमण करता रहता है। और जो मन इस प्रकार के आवेगों को ग्रहण करने के लिये अपने को उन्मुक्त किये हुए हैं, वह तुरन्त ही उन्हें अपना लेगा। अतएव जब कोई मनुष्य कोई दुष्कर्म करता है, तो वह अपने मन को किसी एक विशिष्ट सुर में ले आता है; और उस सुर की जितनी भी तरंगें पहले से ही आकाश में अवस्थित हैं, वे सब उसके मन में घुस जाने की चेष्टा करती हैं। यही कारण है कि एक दुष्कर्मी साधारणत: अधिकाधिक दुष्कर्म करता जाता है। उसके कर्म क्रमश: प्रबलतर होते जाते हैं। यही बात सत्कर्म करनेवाले के लिये भी घटती है; वह मानो वातावरण की समस्त शुभ-तरंगों को ग्रहण करने के लिये अपने को खोल देता है और इस प्रकार उसके सत्कर्म अधिकाधिक शक्तिसम्पन्न होते जाते हैं। अतएव हम देखते हैं कि दुष्कर्म करने में हमें दो प्रकार का भय है। पहला तो यह कि हम अपने को चारों ओर की अशुभ-तरंगा के लिये खोल देते हैं; और दूसरा यह कि हम स्वयं ऐसी अशुभ-तरंग का निर्माण कर देते हैं, जिसका प्रभाव दूसरो पर पड़ता है, चाहे वह सैकड़ों वर्ष बाद ही क्यों न हो। दुष्कर्म द्वारा हम केवल अपना ही नहीं, वरन् दूसरों का भी अहित करते है और सत्कर्म द्वारा हम अपना तथा दूसरों का भी भला करते हैं। मनुष्य की अन्य शक्तियों के समान ही ये शुभ और अशुभ शक्तियाँ भी बाहर से बल संचित करती हैं।[२१]

अपने को इस आदर्श के भाव से ओत-प्रोत कर डालो – जो कुछ करो उसी का चिंतन करते रहो। तब इस विचार-शक्ति के प्रभाव से तुम्हारे समस्त कर्म बहुगुणित, रूपान्तरित और देवभावापन्न हो जायेंगे। यदि 'जड़' शक्तिशाली है, तो 'विचार' सर्वशक्तिमान है। इस विचार से स्वयं को प्रेरित कर डालो, स्वयं को अपनी तेजस्विता, शक्तिमत्ता और गरिमा के भाव से पूर्णत: भर लो। काश, ईश्वरेच्छा से कुसंस्कारपूर्ण भाव तुम्हारे अन्दर प्रवेश न कर पाते! काश, ईश्वरकृपा से हम लोग इस कुसंस्कार के प्रभाव तथा दुर्बलता व नीचता के भाव से परिवेष्टित न होते! काश, ईश्वरेच्छा से मनुष्य अपेक्षाकृत सहज उपाय द्वारा उच्चतम, महत्तम सत्यों को प्राप्त कर सकता! पर उसे इन सबमे से होकर ही जाना पड़ता है; जो लोग तुम्हारे पीछे आ रहे हे, उनके लिये रास्ता अधिक दुर्गम न बनाओ।[२२]

अपने नकारात्मक भावनाओं को संयमित करो

हममें ये चार प्रकार के भाव रहने ही चाहिये। यह आवश्यक है कि हम सबके प्रति मैत्री-भाव रखें, दीन-दुखियों के प्रति दयावान हों, लोगों को सत्कर्म करते देख सुखी हों और दुष्टोके प्रति उपेक्षा दिखायें। इसी प्रकार, जो विषय हमारे सामने आते हैं, उन सबके प्रति भी हमारे ये ही भाव रहने चाहिये। यदि कोई विषय सुखकर हो, तो उसके प्रति मित्रता अर्थात् अनुकूल भाव धारण करना चाहिये। उसी प्रकार यदि हमारी भावना का विषय दु:खकर हो, तो उसके प्रति हमारा अन्त:करण करुणापूर्ण हो। यदि वह कोई शुभ विषय हो, तो हमें आनन्दित होना चाहिये तथा अशुभ विषय होने पर उसके प्रति उदासीन रहना ही श्रेयस्कर है। इन सब विभिन्न विषयों के प्रति मन के इस प्रकार विभिन्न भाव धारण करने से मन शान्त हो जायेगा। मन की इस प्रकार से विभिन्न भावों को धारण करने की असमर्थता ही हमारे दैनिक जीवन की अधिकांश गड़बड़ी व अशान्ति का कारण है। मान लो, किसी ने मेरे प्रति कोई अनुचित व्यवहार किया, तो मैं तुरन्त उसका प्रतिकार करने को उद्यत हो जाता हूँ। और इस प्रकार बदला लेने की भावना ही यह दिखाती है कि हम चित्त को संयमित रख पाने में असमर्थ हो रहे हैं। वह उस वस्तु की ओर तरंगाकार में प्रवाहित होता है और बस, हम अपने मन की शक्ति खो बैठते हैं। हमारे मन में घृणा या दूसरों का अनिष्ट करने की प्रवृत्ति के रूप में जो प्रतिक्रिया होती है, वह मन की शक्ति का अपव्यय मात्र है। दूसरी ओर, यदि किसी बुरे विचार या घृणाप्रसूत कार्य अथवा किसी प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना का दमन किया जाय, तो उससे शुभकरी शक्ति उत्पन्न होकर हमारे ही उपकार के लिये संचित रहती है। यह बात नहीं कि इस प्रकार के संयम से हमारी कोई क्षति होती है, वरन् उससे तो हमारा आशातीत उपकार ही होता है। जब कभी हम घृणा या क्रोध की वृत्ति को संयत करते हैं, तभी वह हमारे अनुकूल शुभ-शक्ति के रूप में संचित होकर उच्चतर शक्ति में परिणत हो जाती है।[२३]

पर्वत की गुफा में बैठकर भी यदि तुम कोई पाप-चिन्तन करो, किसी के प्रति घृणा का भाव पोषण करो, तो वह भी संचित रहेगा और कालान्तर में फिर से वह तुम्हारे पास कुछ दु:ख के रूप में आकर तुम पर प्रबल आघात करेगा। यदि तुम अपने हृदय से बाहर चारों ओर ईर्ष्या और घृणा के भाव भेजो, तो वह चक्रवृद्धि ब्याज सहित तुम्हीं पर आकर गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताकत उसे रोक नहीं सकेगी। यदि तुमने एक बार उसको बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हें उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रहने पर तुम कुकर्मो से बचे रह सकोगे।[२४]

नीतिशास्त्र कहते हैं, किसी के भी प्रति घृणा मत करो – सबसे प्रेम करो। पूर्वोक्त मत से नीतिशास्त्र के इस सत्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। विद्युत-शक्ति के बारे में आधुनिक मत यह है कि वह डाइनेमो से बाहर निकलने के बाद, घूमकर फिर से उसी यन्त्र में लौट आती है। प्रेम और घृणा के बारे में भी यही नियम लागू होता है। अत: किसी से घृणा करना उचित नहीं, क्योंकि यह शक्ति – यह घृणा, जो तुममें से बहिर्गत होगी, घूमकर कालान्तर में फिर तुम्हारे ही पास वापस आ

जायेगी। यदि तुम मनुष्यों से प्रेम करो, तो वह प्रेम घूम-फिरकर तुम्हारे पास ही लौट आयेगा। यह अत्यन्त निश्चित सत्य है कि मनुष्य के मन से घृणा का जो अंश बाहर निकलता है, वह अन्त में अपनी पूरी शक्ति के साथ उसी के पास लौट आता है। कोई भी इसकी गति रोक नहीं सकता। इसी प्रकार प्रेम का प्रत्येक संवेग भी उसी के पास लौट आता है।[२५]

ईर्ष्या का अभाव ही सबसे बड़ा रहस्य है। अपने भाइयों के विचारों को मान लेने के लिये सदैव प्रस्तुत रहो और उनसे हमेशा मेल बनाये रखने की कोशिश करो। यही सारा रहस्य है। बहादुरी से लड़ते रहो। जीवन क्षणस्थायी है। इसे एक महान उद्देश्य के लिये समर्पित कर दो।[२६]

पहले स्वयं को बदलो

हम देख चुके हैं कि अन्तर्जगत् ही बाह्य जगत् पर शासन करता है। आत्मपरिवर्तन के साथ वस्तुपरिवर्तन अवश्यम्भावी है; अपने को शुद्ध कर लो, संसार का विशुद्ध होना अवश्यम्भावी है। पहले के किसी भी काल से अधिक, आजकल इस एक बात की शिक्षा की आवश्यकता है। हम लोग अपने विषय में उत्तरोत्तर कम और अपने पड़ोसियों के विषय में उत्तरोत्तर अधिक व्यस्त होते जा रहे हैं। यदि हम परिवर्तित होते हैं, तो संसार परिवर्तित हो जायेगा; यदि हम निर्मल हैं, तो संसार निर्मल हो जायेगा। प्रश्न यह है कि मैं दूसरों में दोष क्यों देखूँ। जब तक मैं दोषमय न हो जाऊँ, तब तक मैं दोष नहीं देख सकता। जब तक मैं निर्बल न हो जाऊँ, तब तक मैं दु:खी नहीं हो सकता। जब मैं बालक था, उस समय जो चीजें मुझे दु:खी बना देती थीं, अब वैसा नहीं कर पातीं। कर्ता में परिवर्तन हुआ, इसलिये कर्म में परिवर्तन अवश्यम्भावी है – यही वेदान्त का मत है।[२७]

जिस मनुष्य ने स्वयं पर नियंत्रण कर लिया है, उस पर दुनिया की कोई भी चीज प्रभाव नहीं डाल सकती, उसके लिये किसी भी प्रकार की दासता शेष नहीं रह जाती। उसका मन स्वतंत्र हो जाता है और केवल ऐसा ही व्यक्ति संसार में रहने योग्य है। बहुधा हम देखते हैं कि लोगों की संसार के विषय में दो तरह की धारणाएँ होती हैं। कुछ लोग निराशावादी होते हैं। वे कहते हैं, "संसार कैसा भयानक है, कैसा दुष्ट है!" दूसरे लोग आशावादी होते हैं और कहते हैं, "अहा! संसार कितना सुन्दर है, कितना अद्भुत है!" जिन लोगों ने अपने मन पर विजय नहीं प्राप्त की है, उनके लिये यह संसार या तो बुराइयों से भरा है, या फिर अच्छाइयों तथा बुराइयों का मिश्रण है। परन्तु यदि हम अपने मन पर विजय प्राप्त कर लें, तो यही संसार सुखमय हो जाता है। फिर हमारे ऊपर किसी बात के अच्छे या बुरे भाव का असर न होगा – हमें सब कुछ यथास्थान और सामञ्जस्यपूर्ण दिखलायी पड़ेगा।[२८]

हमारे हृदय में प्रेम, धर्म और पवित्रता का भाव जितना बढ़ता जाता है, उतना ही हम बाहर भी प्रेम, धर्म और पवित्रता देख सकते हैं। हम दूसरों के कार्यों की जो निन्दा करते हैं, वह वास्तव में हमारी अपनी ही निन्दा है। तुम अपने क्षुद्र ब्रह्माण्ड को ठीक करो, जो तुम्हारे हाथ में है, वैसा होने पर बृहद् ब्रह्माण्ड भी तुम्हारे लिये स्वयं ही ठीक हो जायेगा। यह मानो hydrostatic paradox (द्रव-स्थैतिक विरोधाभास) के समान है – एक बिन्दु जल की शक्ति से समग्र जगत् को साम्यावस्था में रखा जा सकता है। हमारे भीतर जो नहीं है, बाहर भी हम उसे नहीं देख सकते। बृहत् इंजन के समक्ष जैसे अत्यन्त छोटा इंजन है, समग्र जगत् की तुलना में हम भी वैसे ही हैं। छोटे इंजन के भीतर कुछ गड़बड़ी देखकर, हम कल्पना करते हैं कि बड़े इंजन के भीतर भी कोई गड़बड़ी है।

जगत् में जो कुछ यथार्थ उन्नति हुई है, वह प्रेम की शक्ति से ही हुई है। दोष बताकर कभी भी अच्छा काम नहीं किया जा सकता। हजारों वर्षों तक परीक्षा करके यह बात देखी जा चुकी है। निन्दावाद से कुछ भी फल नहीं होता।[२९]

❖ (क्रमशः) ❖

१३. विवेकानन्द साहित्य, ३/३० १४. वही, ३/५ १५. वही, ३/५-६ १६. वही, ७/२२ १७. वही, ५/३६१-२ १८. वही, १/१२२-३ १९. वही, ७/१०६ २०. वही, ३/५६ २१. वही, ३/५६-७ २२. वही, ८/१३ २३. वही, १/१३७-८ २४. वही, १/१७७-८ २५. वही, १/११० २६. वही, २/३८१-२ २७. वही, ९/१०२-३ २८. वही, ३/६६ २९. वही, ७/३७

मानस-रोगों से मुक्ति (९/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख अन्तिम अर्थात् पैतालीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के इस पवित्र प्रांगण में विगत कई वर्षों से मानस-रोग का प्रसंग चलता रहा है, फिर भी ऐसा नही कहा जा सकता कि मानस-रोगों की व्याख्या पूर्ण हो गई। यह सम्भव भी नहीं है। इन रोगों के प्रसंग में तो विस्तार-भय से मुझे कुछ भाग छोड़ना भी पड़ा। यद्यपि रोग का विश्लेषण भी महत्त्वपूर्ण है, पर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है – रोग की चिकित्सा। विशेष रूप से आज के युग-सन्दर्भ में जब ऐसा लगता है कि मानस-रोगों में अत्यधिक वृद्धि हो रही है, तब स्वाभाविक रूप से उन मानसिक रोगों को दूर करने की पद्धति का भी प्रचार होना चाहिये। यही सोचकर इस वर्ष मानस-रोगों की चिकित्सा का प्रसंग लिया गया। 'मानस' में मन के रोगों की जो चिकित्सा-पद्धति प्रस्तुत की गई है, उसे यदि हम हृदयंगम कर लें, तो कई प्रश्न जो हमारे-आपके और कई लोगो के मन में उठते हैं, उनका समाधान मिल जाएगा।

एक प्रश्न आजकल बड़ा मुखर है, मंचों पर तथा वार्तालाप में भी बारम्बार दुहराया जाता है और दिखाई भी दे रहा है कि लोगों की अध्यात्म में – सत्संग में रुचि बढ़ रही है। पहले की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में लोग धार्मिक कार्यों में भाग लेते हैं, पर उसके साथ-ही-साथ लोग बड़ी निराशा से यह कहते हैं कि इतना सब होते हुए भी बुराइयों का ह्रास न होना, अपितु बुराइयों मे वृद्धि का जो रूप दिखायी दे रहा है, उसका कारण क्या है? धर्म में आस्था न रखनेवाले कोई कोई तो इसी दृष्टांत के आधार पर यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि यह जो धर्म, ज्ञान तथा भक्ति की बातें की जाती हैं, उनका मानव हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उनकी निरर्थकता प्रत्यक्ष है। इस तरह उन्हें अध्यात्म और धर्म के खण्डन का एक तर्क मिल जाता है। पर कुछ लोग ऐसे हैं जिनके मन में सच्ची पीड़ा है और सचमुच यह संशय है कि इसका कारण क्या है? कई लोग यह प्रश्न लेकर आते हैं कि मैं साधन-भजन करता हूँ, पर मुझे अपने जीवन में परिवर्तन नहीं दिखाई देता। यह प्रश्न प्राय: व्यक्तिगत जीवन में और सामूहिक जीवन में भी उठाया जाता है। यदि हम इस प्रसंग को ठीक ठीक समझ लें, तो उसका एक समुचित उत्तर हमें प्राप्त हो जाता है।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आजकल लोग धर्म और अध्यात्म की बात सुनने के लिये अधिक उत्साह से एकत्र होते हैं। एक सज्जन मुझसे बोले कि इस समय यह सब धार्मिक आयोजन प्रवचन आदि अधिक क्यों हो रहे हैं? मैंने कहा – भाई! यह तो स्वाभाविक ही है कि जब पानी बरसता है, तो छाते बहुत दिखाई देते हैं। यदि वर्षा ऋतु में बहुत-से लोगों के हाथ में छाते दिखाई दें, तो क्या कोई यह सोचता है कि इतने लोग छाते क्यों लिये हुए हैं! यह तो वर्षा की स्वाभाविक परिणति है। इसके साथ ही एक और भी सत्य है और आप उससे परिचित भी होंगे कि छाते का कार्य वर्षा को रोक देना नहीं है। ऐसा नहीं है कि आप हाथ में छाता ले लेंगे तो वर्षा ही रुक जाएगी। परन्तु छाते से इतना लाभ अवश्य है कि वर्षा होते हुये भी उससे आपके शरीर का बहुत-सा भाग भीगने से बच जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि बहुत-सी समस्याएँ काल के सन्दर्भ में व्यक्ति और समाज के जीवन में उत्पन्न होती हैं और उन समस्याओं का समाधान देने के लिये ही इन विविध प्रकार के आयोजनों की वृद्धि हो रही है और होनी भी चाहिये। पर जैसे वर्षा को रुकते न देखकर भी या जैसे रात्रि में प्रकाश की व्यवस्था करने पर भी जैसे रात्रि की सत्ता समाप्त न होते देखकर भी हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। हम इसे उलटकर देखें कि रात्रि में सर्वत्र अँधेरा है, पर जहाँ हम बैठकर कथा सुन रहे हैं, यहाँ प्रकाश की व्यवस्था यदि न की गई होती, तो यहाँ भी इतना घोर अँधेरा होता कि यह आयोजन सम्भव न हो पाता। अभिप्राय यह है कि प्रकृति और जीवन के कुछ ऐसे सत्य हैं – रात्रि का सत्य, वर्षा ऋतु का सत्य; इस पर हम विचार करके देखें, न तो दिन-रात का क्रम रुक सकता न ऋतुओं का, काल-चक्र तो चलता ही रहता है, हमें तो वह कला सीखनी चाहिये कि प्रकृति का यह क्रम भी चलता रहे और उस क्रम से हम अपने आप को कैसे सुरक्षित रखें। वर्षा ऋतु में हम वर्षा से कैसे बचें, ग्रीष्म में ताप से कैसे बचें और शीत ऋतु में शीत से कैसे बचें? इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि जब काल की प्रतिकूलता हो, परिस्थिति प्रतिकूल हो, तो ये सद्ग्रन्थ हमें वह उपाय बताते हैं, जिनके द्वारा हम अपने व्यक्तिगत जीवन में बड़ी-से-बड़ी समस्याओं से सुरक्षा पा सकते हैं। इन उपायों और प्रयासों से बहुत-से लोग लाभ उठा पाते हैं। यह भी कोई कम उपलब्धि नहीं है। अभी अभी जो एक शेर सुनाया गया, उसमें एक बहुत बढ़िया

भाव था। उसमें कहा गया है कि भाई, भले ही हम पूरे मार्ग में फूल न बिछा सकें, पर कुछ काँटे हटाकर कुछ-न-कुछ तो ऐसी सुविधा निर्मित कर ही सकते हैं कि व्यक्ति को काँटों का कष्ट न भोगना पड़े। ऐसी स्थिति में यहाँ पर गोस्वामी जी ने यह सूत्र दिया और यह सूत्र बड़े काम का है। शरीर के सन्दर्भ में भी यही दिखाई दे रहा है कि रोगों की वृद्धि हो रही है और चिकित्सकों की भी। यह स्वाभाविक परिणति है, यदि रोग बढ़ रहे हैं, तो चिकित्सा की आवश्यकता भी बढ़ेगी। यही सत्य हम समाज के सन्दर्भ में भी देख सकते हैं।

जो लोग धर्म का केवल विरोध करने के लिये ही विरोध करना चाहते हैं, वे तो ऐसे लोगों की तरह हैं कि जैसे कोई व्यक्ति नित्य चिकित्सालय में जाए और यह पता लगाए की कितने लोग मरे और मरनेवालों के आँकड़े इकट्ठे करके यह बता दे कि यहाँ इतने लोग मरे, इसलिये यह अस्पताल किसी काम का नहीं है। तब तो यह सही दृष्टि नहीं है। उसे तो यह भी पता लगाना चाहिये और बताना चाहिये कि वहाँ कितने लोग बच गये, स्वस्थ हो गये। इसका अभिप्राय यह है कि जो लोग केवल खण्डन करने के लिये खण्डन करते हैं, उनकी बात तो और है पर शरीर के सन्दर्भ में भी तो यही सत्य दिखाई देता है कि योग्य-से-योग्य चिकित्सक के द्वारा भी हर व्यक्ति अच्छा नहीं हो जाता और प्रत्येक रोगी के स्वस्थ होने के समय का भी निर्धारण नहीं किया जा सकता कि कौन-सा रोगी कितने दिनों में ठीक हो जाएगा और यह भी नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा रोगी मृत्यु का ग्रास बनने से बच जाएगा। यह जो शरीर के सन्दर्भ का सत्य है उसे ही गोस्वामी जी यहाँ पर इन पंक्तियों में मन के सन्दर्भ में कहते हैं – भाई! स्वस्थता के लिये इतनी वस्तुओं की आवश्यकता है और इन वस्तुओं में यदि कोई भी वस्तु कम हो जाए तो समस्या उत्पन्न हुये बिना नहीं रहेगी। जैसे मान लीजिये शरीर में रोग हो और योग्य चिकित्सक न मिले, उल्टा कोई यमदूत मिल जाए, तब तो बेचारा वह स्वस्थता का कितना भी उत्सुक रोगी क्यों न हो, उसकी तो मृत्यु होगी ही। पर योग्य-से-योग्य वैद्य भी प्राप्त हो जाए और दवा नकली हो, तो भी रोग दूर नहीं होगा। आजकल यह एक नयी समस्या उत्पन्न हो गयी है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो धन के लोभ में नकली या मिलावटी दवा बेचते हैं। इसका परिणाम आप देखते हैं कि एक अच्छा-से-अच्छा डॉक्टर दवा लिखकर देता है और वह दवा आप बाजार से लाकर रोगी को खिलाते हैं, पर उससे रोग कम नहीं होता। योग्य वैद्य एवं सही दवा के साथ इसमें एक बात और जुड़ी हुई है, और वह है – समय। वैद्य के पास पहुँचने में इतना विलम्ब न हो जाए कि रोग असाध्य हो जाए। इसका अभिप्राय है कि सही समय पर यदि योग्य वैद्य और सही दवा मिल जाए, तो रोग दूर होने की आशा की जा सकती है। समय निकल जाने पर अच्छी-से-अच्छी दवा भी व्यर्थ हो जाती है।

पथ्य का भी बड़ा महत्त्व है। वैद्य दवा के साथ कुछ पथ्य भी बताते हैं। रोगी यदि उस पथ्य को स्वीकार न करे, तो उसे औषधि का पूरा लाभ नहीं होगा। ये जो सारी समस्यायें शरीर के रोगों के सन्दर्भ में दिखाई देती हैं, वही मन के रोगों के सन्दर्भ में भी हैं। रोग को मिटाने के लिये जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उनमें से यदि एक की भी कमी हो गयी, तो मन के रोगों का नाश होने में समय लगेगा और कभी कभी तो ऐसा भी लगेगा कि रोग कभी नष्ट ही नहीं होंगे।

गोस्वामी जी यहाँ पर इस पंक्ति में कहते हैं कि सबसे पहले तो एक वैद्य चाहिये। मन के रोगों के सम्बन्ध में सद्गुरु ही वैद्य है। सद्गुरु कहने का अभिप्राय है कि गुरु कालनेमि अथवा कपटमुनि की तरह न हो। बहिरंग दृष्टि से तो कालनेमि भी एक संत-महापुरुष के समान ही दिखाई दे रहा था। उसे और उसके आश्रम को देखकर तो क्षण भर के लिये हनुमान जी को भी भ्रम हो गया। इस प्रसंग में एक बड़ा सांकेतिक सूत्र दिया गया है। कालनेमि हनुमान जी को कथा भी सुनाता है, उस कथा में रामजी की प्रशंसा भी है –

होत महारन रावन रामहिं।
जितिहहिं राम न संसय या महिं ।। ६/५७/५

वह हनुमान जी को मंत्र और ज्ञान भी देना चाहता है, एक योग्य वैद्य और सद्गुरु होने का दावा भी करता है। उसने हनुमान जी से कहा कि तुम सरोवर से जल पीकर और स्नान करके आओ, मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा, जिससे तुम्हें ज्ञान होगा –

सर मज्जन करि आतुर आवहु।
दिच्छा देउँ ग्यान जेहिं पावहु ।। ६/५७/८

इस प्रकार वह कथा भी राम की ही सुना रहा है, प्रशंसा भी राम की ही कर रहा है, मंत्र भी वह राम का ही देगा, रावण का मंत्र तो देगा नहीं; लेकिन इन सबके पीछे उसका उद्देश्य क्या है? जैसे कोई ऐसा चिकित्सक हो, जिसे देखकर लगता हो कि वह बड़ा अच्छा चिकित्सक है, पर उसका उद्देश्य तो बड़ा घातक है। वह रोगी को स्वस्थ करने के स्थान पर उसे रोगी बनाये रखकर उसका आर्थिक शोषण करना होता है।

मैंने किसी समाचार-पत्र में एक छोटा-सा चुटकुला पढ़ा था। कोई एक चिकित्सक थे। उनके पुत्र भी जब चिकित्सा शास्त्र में उत्तीर्ण हो गये, तब वे अपने पिता के स्थान पर बैठकर चिकित्सा करने लगे। पिता वृद्ध हो गये थे और घर में विश्राम करते थे। कुछ दिन बाद पिता ने पुत्र से पूछा – बेटा! इतने दिनों से तुम चिकित्सा कर रहे हो, क्या अनुभव हुआ? बेटे ने बड़े गर्व के साथ उत्तर दिया – पिताजी, जिन रोगियों को आप पन्द्रह-बीस वर्ष में ठीक नहीं कर पाये, उन्हें मैंने एक महीने में ही ठीक कर दिया। पुत्र को विश्वास था कि पिता

उसकी पीठ ठोकेंगे, पर वे बोले, "मुझे नहीं पता था कि तू इतना मूर्ख है। अरे, यह जो मकान बना है और तेरी पढ़ाई का सारा खर्च, मैंने उन्हीं से तो निकाला है। यदि वे जल्दी ठीक हो जाते, तो न यह भवन होता और न तेरी पढ़ाई हो पाती। तूने कोई बुद्धिमानी का काम नहीं किया।" यह कोई व्यंग्योक्ति नहीं, सचमुच ऐसे लोग होते हैं, जिनकी इच्छा वस्तुत: रोगी को स्वस्थ करने की नहीं होती। वे चाहते हैं कि यत्किञ्चित् अस्वस्थता का बोध रोगी को होता रहे, ताकि उनकी दुकान चलती रहे। रामायण में वह एक व्यंग्य है न! भगवान ने लक्ष्मण जी से पूछा – भाई, देखो सूर्य निकला है या नहीं? लक्ष्मण जी बोले – महाराज, एक निकल आया है पर दूसरा अभी नहीं निकला है। – दूसरा कौन-सा भाई? बोले – महाराज! यह जो धनुष का अँधेरा छाया हुआ है, उसे दूर करनेवाला सूर्य नहीं निकला है। – वह कौन-सा सूर्य है? – वह है आपकी भुजा का सूर्य; उसके उदित होने पर ही यह अन्धकार दूर होगा। भगवान राम ने कहा – लक्ष्मण! तुम ऐसा क्यों कह रहे हो? तुमने तो सुना होगा और देखा भी होगा कि सारे संसार के राजा इस अन्धकार को दूर करने के लिये ही तो एकत्र हुए हैं। ऐसी स्थिति में तुम यह क्यों कहते हो कि मैं इस अन्धकार को दूर करूँगा? जब अन्य राजाओं को भी अन्धकार दूर करने की इतनी तीव्र लालसा है, तो वे इसे दूर क्यों नहीं करेंगे? तब लक्ष्मण जी ने कहा – महाराज, इनमे से किसी की भी आकांक्षा अन्धकार को पूरी तौर-से दूर करने की नहीं है; और दृष्टान्त भी उन्होंने बड़ा सुन्दर दिया –

नृप सब नखत करहिं उजियारी। १/२३८/१

ये राजा तो चन्द्रमा और तारों की तरह हैं। इनमें प्रकाश तो है और रात में ये प्रकाश देते भी हैं, पर समस्या क्या है? लक्ष्मण जी ने कहा – महाराज! इन चन्द्र-तारों और सूर्य में भेद यही है कि सूर्य तो सचमुच ही अन्धकार को दूर करना चाहता है, पर चन्द्रमा और तारे? लगता तो यही है कि जब प्रकाश दे रहा है, तो अन्धेरा दूर करना चाहता है, पर किसी ने एकान्त में चन्द्रमा तथा तारों से पूछ दिया कि आप लोग इतनी बड़ी संख्या में प्रकाश लेकर आये हैं, तो आपका उद्देश्य तो अवश्य यही होगा कि अँधेरा पूरी तरह मिट जाए। तो उन्होंने कहा – भाई, सच तो यह है कि हम प्रकाश देना तो चाहते हैं, परन्तु यह बिल्कुल नहीं चाहते कि अन्धेरा पूरी तौर से मिट जाए। – क्यों? बोले – अन्धेरा मिट जाएगा, तो हम चमकेंगे कहाँ? इसलिये अँधेरा भी बना रहे और हम चमकते भी रहें। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कहीं-न-कहीं हमारे अन्तर्मन में वह वृत्ति बनी हुई है कि रोग बना रहे और चिकित्सक के रूप में हमारी महिमा भी बनी रहे।

आयुर्वेद में तो बड़े बड़े व्यंग्य हैं। (यह बात मैं अच्छे चिकित्सकों के बारे में नहीं, बल्कि एक विशेष सन्दर्भ में कह रहा हूँ।) वहाँ पर एक बड़ा प्रसिद्ध वाक्य है। चिकित्सक के माता-पिता कौन हैं? कहा गया – **वैद्यानाम् शारदीमाता पिता च कुसुमाकरः** – यह जो शरद् ऋतु है वह वैद्यों की माता और वसंत ऋतु पिता हैं। इसका अभिप्राय यह है कि ये दोनो ऋतुएँ वैद्य के व्यवसाय के लिये बड़े अनुकूल हैं, क्योंकि इन ऋतुओं में लोग अधिक संख्या में अस्वस्थ होकर चिकित्सकों के पास आते हैं। जैसे माता-पिता सन्तान के अनुकूल होते हैं, उसी प्रकार से ये ऋतुएँ भी वैद्य के लिये अनुकूल होती हैं। वैद्य इन ऋतुओं की प्रतीक्षा करते रहता है और इस प्रकार वह एक तरह से लोगों की अस्वस्थता का प्रेमी होता है। वह व्यक्ति की चिकित्सा तो करता है, पर पूरे मन से नहीं, क्योंकि वह तो चाहता ही है कि उसके चिकित्सालय में भीड़ बनी रहे। यह एक सांकेतिक बात है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़ा हुआ एक कटु सत्य है। बुराई से हम लड़ते तो हैं, पर आधे मन से, पूरे मन से नहीं लड़ते।

जब मैं स्कूल में पढ़ता था तब मैंने एक ऐसे वक्ता को देखा था, जो अपनी कथा में कभी किसी व्यक्ति को कागज-कलम लेकर नहीं बैठने देते थे, लिखने की अनुमति नहीं देते थे। उनके शिष्य ने मुझे बताया कि वे अपने शिष्य को भी नहीं लिखने देते थे। उस बेचारे को तो सदा सेवा में ही लगे रहना पड़ता था, वे कभी उसे लिखने का समय ही नहीं देते थे। आखिरकार एक दिन जब गुरुजी रात में सो गये, तब वे शौचालय में छिपकर लिखने लगे। अचानक गुरुजी की नींद खुल गयी, देखा कि शिष्य शौचालय गया हुआ है। पर बहुत देर प्रतीक्षा करने के बाद भी जब शिष्य शौचालय से नहीं आया, तो गुरुजी को सन्देह हो गया। उन्होंने शौचालय का दरवाजा खटखटाकर खुलवाया, तो देखा कि उसके हाथ में कॉपी और कलम है। बस, बिगड़ पड़े और उसके हाथ से कॉपी छीनकर उसे जला दिया। गुरुजी ने सोचा कि यदि इसने मेरे सारे भाव चुरा लिए और वक्ता बन गया, तो मेरी सेवा क्या करेगा, मेरा शिष्य क्यों बना रहेगा? यह मेरी सारी पूंजी लेकर भाग जाएगा। यह क्या है? हर क्षेत्र में, चाहे वह ज्ञान का क्षेत्र हो या चिकित्सा का, प्रत्येक क्षेत्र में यही वृत्ति दिखाई दे रही है कि कहीं-न-कहीं हम अन्धकार और बुराई को किसी सीमा तक पकड़े रहना चाहते हैं।

लक्ष्मण जी का अभिप्राय यह था और सत्य भी यही है कि जो राजा आये थे, वे धनुष को तोड़ने, अन्धकार को दूर करने हेतु नहीं आये थे। उनका उद्देश्य तो सीताजी को पाना था। अब यह बीच में जनक जी ने एक समस्या खड़ी कर दी कि बिना धनुष तोड़े मैं अपनी कन्या को नहीं दूँगा, अत: बेचारों को प्रयत्न करना पड़ रहा है। लेकिन चेष्टा करते हुये भी उनके मन में वस्तुत: एक ही संकल्प है कि यह धनुष यदि टूटे, तो

मुझसे ही टूटे, श्रेय मिले तो मुझे ही मिले, नहीं तो बुराई और अन्धकार बना रहे। यह जो हमारे आपके जीवन का मनोवैज्ञानिक सत्य है, वह किसी एक व्यक्ति के लिये नही है। हम असंख्य लोगों में से शायद ही कोई ऐसा हो जो इस रोग से अछूता हो, जिनमे यह वृत्ति न हो। इसका अभिप्राय यह है कि विद्वान् नहीं चाहता कि हर व्यक्ति को उसकी विद्या प्राप्त हो जाए। धनवान आदमी पूरे मन से यह नहीं चाहेगा कि धन का समान वितरण हो जाए। वह भिखारी को देगा, पर उसके मन में यह वृत्ति नही बनेगी कि यह भिखारी इतना धनी न हो जाए कि वह मेरे दरवाजे पर आना ही छोड़ दे, माँगना ही छोड़ दे।

भगवान राम के सन्दर्भ में यह कहा गया कि उनका एक स्वभाव था – चार कार्य ऐसे थे, जिन्हें वे उनके जीवन में दो बार नहीं करते थे। वह वाक्य आपने सुना होगा जिसमें कहा गया है – **द्विस्सरम् नाभिसन्धत्ते** – वे धनुष पर बाण दो बार नही चढ़ाते थे। एक ही बाण से उनका उद्देश्य पूरा हो जाता है। **द्विस्थापित न आश्रितः** – जो उनका आश्रित हो जाता है उसे वे दूसरे स्थान पर नही भेजते थे। **द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो** – माँगनेवालों को दो बार नहीं देते। इससे तो लगता है कि भगवान राम बड़े कृपण हैं, पर इसमें मनोविज्ञान वही है कि हम भिखारी को देते तो हैं, पर थोड़ा-सा देते हैं। आज थोड़ा देंगे, तो जय-जयकार होगी, कल फिर आयेगा, फिर थोड़ा देंगे, फिर जय-जयकार करेगा। यदि मैं देना बन्द कर दूँ और भिक्षुक न आएँ, तो जय-जयकार कौन करेगा? भिखारी बने रहें और दाता की जय-जयकार भी बनी रहे। इस तरह हम भिक्षावृत्ति को मिटाना नही चाहते।

जब रामराज्य की स्थापना हुई तो गोस्वामी जी ने सबसे पहला सूत्र यही दिया –

जाचक सकल अजाचक किन्हें।। ७/१२/७

ये ही शब्द हैं गोस्वामी जी के और यही विशेषता है भगवान राम की। पूछा गया कि भगवान ने किसको कितना दान किया? बोले – यह तो मैं नहीं बतलाऊँगा, बस इतना ही कह सकता हूँ कि उन्होंने जिसे भी दिया, इतना दिया कि उसे दुबारा माँगना नहीं पड़ा। तात्पर्य यह है कि हम बुराई को कितनी मात्रा में मिटाना चाहते हैं, उसमें भी एक तारतम्य है। कुछ लोग बुराई को खूब बनाये रखना चाहते हैं, कुछ लोग मिटा भी देना चाहते हैं, तो कुछ बुराई और अच्छाई में समझौता चाहते हैं। यही समाज की वृत्ति है। किन्तु कालनेमि की वृत्ति तो बड़ी घातक है। जहाँ पर चिकित्सक स्वार्थवश रोगी को पूर्ण स्वस्थता प्रदान नहीं करता, पर उसे कम-से-कम थोड़ा स्वस्थ तो बनाये रखता है। जहाँ रोगी को कुछ अंश में स्वस्थ बनाये रखने में चिकित्सक का स्वार्थ है, उससे रोगी को कुछ तो लाभ है। पर कालनेमि जैसा चिकित्सक? उसका उद्देश्य क्या है? जब वह हनुमान जी से कहता है कि स्नान करो, कथा सुनो, दीक्षा लो, तब उसकी दृष्टि कहाँ पर है? इस प्रसंग में अच्छे और बुरे वैद्य का संकेतसूत्र सामने आता है। एक वैद्य और चिकित्सक के रूप में तो स्वयं हनुमान जी ही हैं। हनुमान जी तो शंकर के अवतार हैं, वे त्रिभुवन-गुरु हैं, लेकिन यहाँ पर उनकी भूमिका दूसरी है। यहाँ पर वैद्य की भूमिका में सुषेण हैं। इस प्रसंग में भगवान के विचार करने की शैली का भी पता चलता है और सुषेण की महानता का भी।

भगवान राम के सामने जब यह प्रश्न आया कि लक्ष्मण जी की मूर्छा को दूर करने के लिये, उन्हें स्वस्थ करने के लिये, क्या किया जाए? हनुमान जी ने भगवान राम के सामने कई प्रस्ताव रखे, पर प्रभु ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। अन्त में यही निर्णय हुआ कि योग्य वैद्य ढूँढ़ा जाए। अब ऐसी परिस्थिति में वैद्य के चुनाव के विषय में जो साधारण तर्क है, उसी के अनुसार वाल्मीकि रामायण और अन्य रामायणों में भी लिखा हुआ है कि सुषेण सुग्रीव की सेना के ही एक वैद्य थे। यह सुनकर बड़ा सहज-स्वाभाविक लगता है कि जो अपना है, जाना-पहचाना और विश्वस्त वैद्य है, उसी के द्वारा लक्ष्मण जी की चिकित्सा की गई। पर जब आप 'मानस' पढ़ते हैं, तब यह बात बिल्कुल भिन्न रूप से पाते हैं। यहाँ पर हम पाते हैं कि सुषेण लंका में रहनेवाले एक राक्षस थे। कैसी अद्भुत दृष्टि है गोस्वामी जी की! यह लिखकर वे कितनी ऊँचाई पर चले गये, इस पर आप विचार करके देखिये। भगवान राम के लिये स्वर्ग के वैद्य अश्विनीकुमार को बुलाना बड़ा सरल था, क्योंकि स्वर्ग के राजा इन्द्र भगवान राम के भक्त तथा उनके प्रिय भी हैं। इन्द्र ने भगवान राम के लिये स्वर्ग से अपना रथ भेजा, सूचना मिलने पर अश्विनीकुमारों को भी भेज देते। पर भगवान ने चुनाव किस वैद्य का किया? पता चला कि लंका में एक वैद्य हैं – सुषेण। भगवान ने कहा – बस, वही ठीक है। इसका आध्यात्मिक तात्पर्य बड़ा गहन और गम्भीर है।

यहाँ पर अस्वस्थता को यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो यह लक्ष्मण जी की मूर्छा क्या है? मेघनाद मूर्तिमान काम है। काम और वैराग्य के संघर्ष में एक क्षण ऐसा भी आया, जब काम विजयी हो गया। यह दृष्टान्त इसलिये है कि बड़े-से-बड़े व्यक्ति के जीवन में ऐसा क्षण आता है। लक्ष्मण मूर्तिमान वैराग्य हैं। वैराग्य मूर्छित हो गया, इसका अभिप्राय क्या है? यह सांकेतिक भाषा है। काम के प्रहार से वैराग्य मूर्छित हो गया। अब उसका उपचार क्या है, वैद्य कौन है, औषधि क्या है, वैराग्य को चैतन्य कैसे होगा? भगवान ने कहा – इसके लिए तो लंका का वैद्य ही सर्वाधिक उपयुक्त होगा। क्यों? बोले – वैद्य क्या है? शरीर के रोगों के सन्दर्भ में वैद्य का एक नाम है दोषज्ञ। यह नाम बड़े महत्त्व का है। इसका अभिप्राय

है कि जब वैद्य आयेगा, तो यह नहीं देखेगा कि रोगी का घर कितना बढ़िया है, पलंग कितना सुन्दर है? वह तो यही देखेगा कि रोगी ने कुपथ्य क्या किया है, गल्ती कहाँ हुई है, उसमे रोग क्या है, कमी क्या है? और यह देखने का उद्देश्य रोगी को नीचा दिखाना या उसका उपहास करना नहीं, बल्कि उन दोषों को देखे बिना वह रोगी की चिकित्सा ही नहीं कर सकता। अत: वैद्य तो चतुर वही है, जो रोगी के दोष देखे। और शरीर के सन्दर्भ में जो सत्य है, वही मन के सन्दर्भ में भी बड़ा सत्य है। मन के रोगी की यदि चिकित्सा करानी हो, तो जो चिकित्सक आयेगा, उसका गुण क्या होगा? उस चिकित्सा का गुण तो यही होना चाहिये कि वह दोष पर दृष्टि डाले।

इसे यदि सांकेतिक भाषा में कहें तो इसके पीछे भगवान के दो तात्पर्य है – एक तो यह कि जब भगवान राम से किसी ने यह कहा – महाराज, क्या लंका का वैद्य विश्वस्त है? वे बोले – मुझे तो यह वैद्य सबसे अनोखा लगा। – क्यों? बोले – इतने दिनों से युद्ध चल रहा है, पर इस वैद्य ने एक भी राक्षस को ठीक नही किया। अब भला इससे बढ़िया वैद्य और कौन होगा! यह कभी सुनने को नहीं मिला कि इस सुषेण वैद्य ने लंका में किसी राक्षस को स्वस्थ किया हो। अब बेचारे सुषेण भी क्या करते? स्वस्थता के लिए नियम तो यह है कि –

सदगुर बैद बचन बिश्वासा। ७/१२२/६

सर्वप्रथम तो रोगी को वैद्य पर विश्वास होना चाहिए, किन्तु यहाँ तो रावण की समस्या यह है कि वह स्वयं को कभी रोगी मानता ही नहीं। वह तो वैद्य को ही रोगी माननेवाला रोगी है। उसे स्वयं में कोई कमी दिखाई ही नहीं देती। ऐसी स्थिति में सुषेण को यह भी पता है कि यहाँ दवा न देना ही अच्छा है; क्योकि रोगी यदि ठीक हुआ, तो धन्यवाद तो मिलेगा नहीं, पर यदि रोगी मर गया, तो रावण मुझे बिना मारे नहीं छोड़ेगा कि तुम्हारी दवा बेकार है। वह तो इसी दृष्टि से देखेगा, उसकी दृष्टि में श्रद्धा-विश्वास जैसी कोई वृत्ति तो है नहीं।

लंका में रहकर भी सुषेण वैद्य की यह बड़ी सुन्दर भूमिका रही कि वे दुर्गुणों को स्वस्थ नहीं करते, पर उन्होंने सद्गुण को स्वस्थ बनाया। भगवान राम के पास एक कला है कि वे लंका के वैद्य का भी सदुपयोग कर लेते हैं। उन्होंने लंका के वैद्य से लक्ष्मण जी का उपचार करा लिया। उनका लक्ष्य है वैराग्य को स्वस्थ करना और वह स्वस्थ कब होता है? वैराग्य के सम्बन्ध में एक नियम है कि संसार के विषयों में दोष-दर्शन जितना तीव्र होगा, वैराग्य उतना ही तीव्र होगा। संसार के प्रति जितनी गुण-बुद्धि होगी, वैराग्य में उतनी ही ह्रास आ जाएगा। भगवान ने कहा – यह शत्रुनगर लंका का वैद्य जितना बढ़िया दोष देखेगा, उतना तो कोई देख ही नहीं सकता। इसका तात्पर्य यह है कि साधक के लिए ऐसा व्यक्ति हितकर नहीं हो सकता, जो प्रशंसा करके उसे भ्रम में डाल दे। उसे तो ऐसे व्यक्ति की खोज करनी चाहिए, जो उसकी कमी को बताने में सक्षम हो। वैसे उसका उद्देश्य कमी बताकर नीचा दिखाना न हो। उसका उद्देश्य कमी को बताकर उसे दूर करना होना चाहिए। उसकी दृष्टि बड़ी पैनी हो। ऐसी स्थिति में भगवान राम ने लंका के उस वैद्य को चुना, जो दोषज्ञ है, शत्रुनगर का है, जिसने किसी दुर्गुण को कभी स्वस्थ नहीं किया है।

भगवान श्री राघवेन्द्र को वैद्य में कितना विश्वास है! सुषेण आ गये और रोगी को देखकर कहा कि ये स्वस्थ तो हो सकते हैं, पर इसके लिए दवा चाहिए। दवा कहाँ मिलेगी? बता दिया – दवा यहाँ से साठ हजार योजन दूरी पर है और साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि दवा सूर्योदय से पहले आ जाए। भगवान राम यदि राजनैतिक दृष्टि से सोचनेवाले होते, तो उनके मन में पहला सन्देह यही आता कि यह चिकित्सा नहीं करना चाहता है, इसीलिए ऐसा बहाना कर रहा है, ऐसी असम्भव बातें कर रहा है। हनुमान जी तो इसीलिए उसे घर सहित उठा लाये थे कि वह दवा न होने का बहाना न करे, पर अब ऐसी दवा की बात कर रहा है, जिसे लाना असम्भव है। यह लक्ष्मण जी को स्वस्थ नहीं करना चाहता, केवल बहाना कर रहा है। परन्तु नहीं, यहाँ पर क्या होना चाहिए? – वैद्य पर अचल विश्वास। और वह श्रीराम में विद्यमान है। हनुमान जी के मन में सुषेण की वाणी पर विश्वास है कि ये बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। यदि सुषेण यही बात लंका में रावण से कह देते कि दवा मँगाइए और दवा साठ हजार योजन की दूरी पर है और वह सूर्योदय से पहले आना चाहिए, तो रावण ने पहले तो सुषेण की खबर ली होती कि तुम ऐन मौके पर दवा लाने को कह रहे हो, मैंने तुम्हें इतने दिनों से क्यों रखा है? तुम औषधालय में पहले से दवा तैयार क्यों नहीं रखते? इसलिए बेचारे सुषेण रावण को कभी दवा ही नहीं बताते थे। यदि रावण जैसा कोई रोगी मिल जाए, तो उसकी चिकित्सा न करना ही ठीक है। इसलिए सुषेण वैद्य लंका में कभी किसी की चिकित्सा नहीं करते थे। परन्तु यहाँ भगवान राम और हनुमान जी को सुषेण वैद्य की वाणी पर कितना विश्वास है! सुनने पर लगता है कि सुषेण वैद्य की बातें विश्वसनीय नहीं हैं, वह बहाना बना करके टाल रहा है, तो फिर भगवान राम क्यों उनकी बातों पर विश्वास कर रहे है? इसलिए कि चिकित्सा के सन्दर्भ में तो सबसे महत्त्वपूर्ण विश्वास ही है।

अब हनुमान जी गये औषधि लेने। इधर समय की भी सीमा है। वहाँ पर भी फिर सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया गया है। हनुमान जी औषधि को पहचान नहीं सके –

देखा शैल न औषध चीन्हा।
सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा।। ६/५८/७

हनुमान जी की मान्यता क्या है? पर्वत पर औषधियाँ तो बहुत हैं, पर लक्ष्मण जी के लिए न जाने कौन-सी जड़ी उपयोगी होगी! अन्त में उन्होंने यही निर्णय लिया कि मैं तो नही समझ पा रहा हूँ कि कौन-सी जड़ी उपयुक्त होगी, अत: उन्होंने पूरे पर्वत को ही उठा लिया। सोचा कि पर्वत को सुषेण के सामने रखकर कहूँगा कि आप तो औषधि को पहचानते हैं, स्वयं उसे ले लीजिए। यह हनुमान जी की वैद्य पर महानतम निष्ठा है, जिसके चलते उन्होंने इतना कठिन तथा श्रमसाध्य कार्य पूरा करके सूर्योदय के पहले ही दवा लाकर उन्होंने सुषेण वैद्य के सामने रख दिया और तब सुषेण ने उस दवा के द्वारा लक्ष्मण जी को चैतन्य कर दिया। इस प्रकार से मूर्छित वैराग्य पुन: चैतन्य हो गया। जब काम के प्रहार से वैराग्य मूर्छित हो जाता है, तब उसकी यही चिकित्सा है, जिसके द्वारा मूर्छित वैराग्य पुन: चैतन्य हो जाता है।

भगवान श्री राघवेन्द्र ने जब हनुमान जी से उनकी यात्रा के अनुभव पूछे, तो उन्होंने बताया कि उनकी इस यात्रा में दो पात्र आये – एक कालनेमि और दूसरे श्री भरत। स्मरण रहे कि भरत जी भी एक महान् वैद्य हैं। रामायण में भरत जी का जो रूप बताया गया है, वह यही कहकर कि उनके दर्शन से रोग नष्ट हो जाता है –

भरत दरस मेटा भव रोगू । २/२१७/२

दूसरी ओर है कालनेमि। वह भी रोग दूर करने की दवा करता है, किन्तु दोनों की प्रवृत्ति में अन्तर है। जब हनुमान जी की श्री भरत से पहली बार भेंट हुई, तो भरत जी को सबसे अधिक चिन्ता किस बात से हुई? – आपको प्रभु के पास पहुँचने में बड़ा विलम्ब हो जाएगा –

तात गहरु होइहि तोहि जाता । ६/६०/५

– मैं चाहता हूँ कि आप शीघ्र यहाँ से प्रस्थान करें और दवा लेकर प्रभु के पास पहुँच जाएँ, ताकि लक्ष्मण के प्राणों की रक्षा हो। यह तो भरत जी की चिन्ता है और दूसरी ओर कालनेमि की क्या चिन्ता है? कालनेमि जो कथा सुना रहा है, जो दीक्षा लेने के लिए कह रहा है, उसका उद्देश्य यही है कि कथा मैं इतनी देर तक सुनाऊँ और दीक्षा आदि में इतना विलम्ब हो जाए कि तब तक सबेरा हो जाए और लक्ष्मण के लिये दवा न पहुँच सके। दवा न मिलने से लक्ष्मण के प्राण चले जायेंगे। लक्ष्मण के प्राण चले जाने का फल यह होगा कि राम भी विरह में प्राण त्याग देंगे। सीता जी सुनेंगी, तो वे भी व्याकुल होकर प्राण दे देंगी। इस तरह मेरे द्वारा रावण का महान् कार्य पूरा हो जाएगा। कालनेमि का उद्देश्य है – भगवान राम, श्री सीता तथा लक्ष्मण जी को अर्थात् ज्ञान, भक्ति और वैराग्य को मिटाने की चेष्टा करना।

ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य को बढ़ाना ही कथा का उद्देश्य है। कथा सुनकर अथवा मंत्र जपकर हमें ज्ञान-भक्ति-वैराग्य का अनुभव होना चाहिए। गोस्वामी जी इसकी कसौटी बताते हुए कहते हैं – जब रोगी को अनुभव होता है कि हृदय में बल तथा वैराग्य में वृद्धि हो रही है, तब उसे लगता है कि दवा काम कर रही है –

जब उर बल बिराग अधिकाई । ७/१२२/९

यही कसौटी है। स्वस्थता में ज्ञान-भक्ति-वैराग्य – इन तीनों का सामंजस्य होता है। इस प्रसंग में गोस्वामी जी कहते हैं कि यह वैराग्य ही स्वस्थता का लक्षण है। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि साधक के जीवन में, साधना के मार्ग में ज्ञान-भक्ति-वैराग्य को मिटाने की प्रवृत्ति वाले लोग भी आते हैं और साधु के वेश में कथा एवं मंत्र का आश्रय लेकर ही साधक को नष्ट करने, उसके हृदय से श्रद्धा-विश्वास-ज्ञान-भक्ति-वैराग्य को दूर करने की चेष्टा करते हैं। पर भगवान की कृपा से वे पहचान लिया जाते हैं और साधक हनुमान जी के समान ही बचकर निकल आता है। ❖ (क्रमश:) ❖

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें -

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

माँ के सान्निध्य में (७१)

श्रीमती सरलाबाला देवी

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे थे। इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद। – सं.)

वाराणसी १९१२

पौष महीने में बड़े दिनों की छुट्टियों में श्रीमाँ के पास रहने की इच्छा से सुधीरा दीदी हममें से कुछ को लेकर वाराणसी गयीं। माँ के साथ भेंट होने पर उन्होंने अन्य बातों के बाद योगेन-माँ की जानकारी ली और कहा, "अहा! बेटी, योगेन आ नही सकी। उसे जो बीमारी हुई थी! ठाकुर और माँ ने ही रक्षा की। योगेन के लिए बड़ी चिन्ता हुई थी।" थोड़ी देर बातचीत के बाद सुधीरा दीदी आदि हम लोगों के ठहरने के लिए जो मकान किराये पर लिया गया था, उसे देखने गयीं।

माँ थोड़ी-सी सो गयी थीं। कमरा लगभग नि:स्तब्ध था। सभी लोग विश्राम कर रहे थे। उसी समय बरामदे से एक गीत सुनने में आया – (भावार्थ) – "मेरी माँ, तू कहाँ गयी? बहुत दिनों से तुझे देखा नहीं, माँ, मुझे गोद में ले ले। सन्तान के प्रति इतनी निर्मम, तू कैसी माता है? माँ, दर्शन दे दे, अब और न रुला, क्योंकि मैं तेरी ही पुत्री हूँ।"

गीत इतने हल्के स्वर में सुनाई दे रहा था कि मुझे लगा मानो बड़ी दूर कोई रो रहा हो। माँ सहसा उठकर बोलीं, "यह गीत कौन गा रहा है? चल तो बेटी, बरामदे में चलकर देखें।" जाकर जो कुछ मैंने देखा, उस पर मैं अवाक् होकर खड़ी रह गयी। एक बालिका यही गीत गा रही थी और उसके नेत्रों के जल से उसका सीना भीग रहा था। माँ के वहाँ बैठते ही वह माँ को प्रणाम करके बोली, "माँ, आज मेरी बहुत दिनों की आशा पूर्ण हुई। आज मुझे कितना आनन्द हो रहा है, वह मैं व्यक्त नहीं कर पा रही हूँ, माँ।" माँ ने उसे आशीर्वाद देने के बाद उसका परिचय पूछा।

बालिका – मैं आपकी भिखारिन पुत्री हूँ, माँ।

माँ – कहाँ रहती हो?

बालिका – अन्नपूर्णा के द्वार पर, नहीं हुआ तो दशाश्वमेध घाट पर बिहारी बाबा के मन्दिर के पास बैठी रहती हूँ।

माँ – भिक्षा से तुम्हारा ठीक चल जाता है न?

बालिका – आपके आशीर्वाद से ठीक चल जाता है। इन सबके के लिए कोई चिन्ता नहीं है। अन्नपूर्णा की दया से यहाँ कोई उपासा नहीं रहता, माँ। कैसे थोड़ी-सी भक्ति हो, यही चिन्ता है, माँ।

माँ – अवश्य होगा, बेटी; तुम ऐसे स्थान पर हो। यहाँ विश्वनाथ और माँ-अन्नपूर्णा साक्षात् विराज कर रहे हैं; उनकी कृपा से सब हो जायेगा।

माँ ने उससे एक और गीत गाने को कहा। वह गाने लगी – (भावार्थ) "माँ, दया करके मुझे शिशु के ही समान बनाये रखना; शैशव का सौन्दर्य छोड़कर बड़ा मत होने देना। इस अवस्था में वह सुन्दर तथा सरल चित्तवाला रहता है, मान-अपमान का बोध नहीं करता और ईर्ष्या, निन्दा, लज्जा, घृणा – यह सब वह जरा भी नहीं जानता।"

माँ – अहा, क्या अद्भुत गीत है!

बालिका – बहुत दिनों से आपको देखने की बड़ी इच्छा थी। आप यहाँ हैं, सुनकर सोचती थी कि जाऊँगी, पर भय लगता था कि कहीं कोई कुछ बोल न दे।

माँ – कोई कुछ नहीं कहेगा। तुम्हारी जब भी इच्छा हो, चली आना।

माँ ने उसे प्रसाद देने को कहा। वह प्रसाद पाकर विदा लेने लगी। माँ ने उससे कहा, "फिर आना बेटी।" बाद में उन्होंने हम लोगों से कहा, "बच्ची में खूब भक्ति है।"

वाराणसी में मैं जितने भी दिन रही, प्रतिदिन दोनों समय माँ के पास जाया करती थी। एक दिन अपराह्न में जाकर मैंने देखा कि माँ अद्वैत आश्रम में भागवत-पाठ सुनने जा रही हैं। हम लोगों को देखकर वे बोलीं, "हम लोग मठ में भागवत सुनने जा रही हैं, कोई कथक पाठ करेंगे। तुम लोग भी जाओगी? चलो न।" हम लोग भी उनके साथ गयीं। दो घण्टे तक पाठ हुआ। पाठ समाप्त हो जाने पर माँ एक रुपया देकर प्रणाम करके आने के बाद बातचीत के दौरान बोलीं, "अहा, क्या अद्भुत पाठ था। कथक ने अच्छा कहा।"

एक दिन सुधीरा दीदी तथा मैं माँ के पास बैठी हुई थी; माँ ने कहा, "जिसने एक बार भी ठाकुर को पुकारा है, उसे फिर भय नहीं है। ठाकुर को पुकारते पुकारते कृपा होने पर तभी प्रेमभक्ति होती है। वह प्रेम अति गोपनीय वस्तु है, बेटी। व्रज की गोपियों को प्रेमभक्ति हुई थी। वे एकमात्र कृष्ण को छोड़ और किसी को नहीं जानती थीं। नीलकण्ठ के भजन में है – 'उस प्रेमरत्न को बड़े यत्नपूर्वक रखना पड़ता है।'

इतना कहने के बाद माँ उस भजन को गाने लगीं। कितने मधुर आवाज में माँ ने उस भजन को गाया था, वह आज भी मानो कान से लगा हुआ है। गाना पूरा हो जाने के बाद माँ ने कहा, "अहा, नीलकण्ठ के भजन कितने अद्‌भुत हैं ! ठाकुर उन्हें बड़ा पसन्द करते थे। ठाकुर जब दक्षिणेश्वर में थे, तब नीलकण्ठ कभी कभी उनके पास आता और भजन सुनाता। (उन दिनों) मै कितने आनन्द में थी ! कितने ही तरह के लोग उनके पास आया करते थे ! दक्षिणेश्वर में मानो आनन्द का हाट-बाजार ही लग जाया करता था !"

एक दिन मैं माँ के घर गयी थी। माँ बरामदे में बैठीं दो महिलाओं के साथ बातें कर रही थीं। उसी भिखारिन बालिका ने आकर माँ को प्रणाम किया। उसके हाथ में एक अमरूद था। उसे माँ को देकर वह बोली, "यह आज मुझे भिक्षा में मिला है, इसीलिए आपके लिए ले आयी हूँ। देने का साहस नही जुटा पा रही हूँ, माँ।" माँ ने कहा, "अच्छा किया है बेटी, दे दो।" यह कहकर उन्होंने वह अमरूद लेकर सिर से लगाया और बोलीं, "भिक्षा की चीज बड़ी पवित्र होती है, ठाकुर को अतीव प्रिय थी। अमरूद तो बड़ा अच्छा है, मैं इसे अभी खाऊँगी।" बालिका ने कहा, "मैं आपकी भिखारिन पुत्री हूँ, मेरे ऊपर आपकी इतनी दया !" इतना कहते कहते उसके नेत्रों से अश्रु गिरने लगे। माँ ने कहा, "तुम्हारे गीत बड़े मधुर हैं। तुम एक गीत गाओ।" बालिका गाने लगी –

गोपाल, आ बेटा मैं तुझे सँवार दूँ।
एक बार तू फिर वैसे ही
बार बार घूम-फिर कर नाचना ।।
बेटा, मैं तेरे चरणों में नूपुर पहनाऊँगी,
जो रुनुझुनु रुनुझुनु बजेगा ।
तेरी कमर में मैं सोने का वस्त्र पहनाऊँगी,
गोपाल बेटा, इसके बाद तुझे खिलाऊँगी ।
और तेरे दोनों हाथों में मैं
सोने के दो कंगन पहना दूँगी ।।

गीत समाप्त हो जाने पर वह बोली, "माँ, यह गीत गाने पर दशाश्वमेध घाट पर जो बिहारी बाबा नाम के साधु हैं, वे ठीक गोपाल के समान नाचने लगते हैं। उनका स्वभाव ठीक गोपाल के ही समान है।"

माँ बोलीं, "गीत अच्छा है। और एक सुनाओ न।"

उसने एक और गाया। माँ ने उसे प्रसाद देने को कहा। प्रसाद लेकर माँ को प्रणाम करने के बाद वह बोली, "तो फिर आज चलूँ, माँ।" माँ ने कहा, "फिर आना बेटी, जब इच्छा हो, चली आना।"

एक दिन अपराह्न में तीन बजे वृद्धाओं का आश्रम देखने जाते समय माँ मार्ग से हमें भी उठाकर ले गयीं। वहाँ उतरते ही एक युवती आकर माँ को ऊपर ले गयी। वहाँ की सभी वृद्धाएँ माँ के चरणों में फूल चढ़ाकर प्रणाम करने लगीं।

माँ – यह क्या जी? ये सभी काशीवासिनें हैं, ये भला मुझे क्यों प्रणाम करेंगी?

युवती – क्यों नहीं करेंगी, माँ? आपके अन्न से ही तो इनका पालन हो रहा है।

माँ – विश्वनाथ, अन्नपूर्णा ही हैं, बेटी। लगता है तुम्हीं उनकी देखभाल करती हो।

युवती – हाँ माँ, आप जैसा कराती हैं।

माँ – अहा, यह अच्छा है। इन अनाथ वृद्धाओं की सेवा करने से नारायण की सेवा होती है। अहा, ये सब बच्चे क्या ही काम कर रहे हैं !

इसके बाद माँ ने वृद्धाओं से परिचय पूछा और उन लोगों के कमरे देखकर लौट आयीं।

एक दिन संध्या के बाद सारनाथ से लौटकर हम लोगों ने माँ के कमरे में जाकर देखा कि माँ लेटी हुई हैं। राधू भी उनकी बगल में लेटी हुई है। सारनाथ का वर्णन सुनकर उसने माँ से कहा, "माँ, एक दिन देखने जाओगी?"

माँ बोलीं, "कैसे जाऊँगी, बेटी? मैं चल ही कहाँ सकती हूँ, जो घूम-घूमकर देखूँगी? यही देखो न बेटी, विश्वनाथ दर्शन के लिए ही तो नहीं जा पाती। इन सबको जाते देखकर मेरी भी इच्छा होती है कि विश्वनाथ का दर्शन कर आऊँ; परन्तु चल ही नहीं पाती, तो जाऊँगी कैसे? कुछ भी नहीं कर सकती। जब पाँव ठीक थे, तब अपने गाँव से दक्षिणेश्वर तक पैदल चलकर आयी हूँ। उस समय कितना चल पाती थी ! ठाकुर के देहत्याग के बाद वृन्दावन गयी थी। वहाँ तो घूम-घूमकर ही सब दर्शन किया करती थी।"

एक अन्य दिन जाकर मैंने देखा कि एक महिला और उसकी एक दस-ग्यारह वर्ष की एक कन्या माँ के पास बैठी हैं। महिला बड़ी गरीब थी।

माँ – तुम्हारा पति कहाँ है?

महिला – कहीं विरागी होकर गया है। यह बच्ची जब छोटी थी, तभी चला गया।

माँ – इतने दिनों से कोई कामकाज नहीं, चलता कैसे है?

महिला – काम-काज करके जो मिला उसी के द्वारा बड़े कष्ट से चलाया है। अब और नहीं चलता, माँ; बड़े कष्ट में पड़ी हूँ। आप यदि उन लोगों को बोलकर कुछ करा दें, माँ।

माँ – मैं कहकर देख सकती हूँ। वे लोग तो बेटी, भिक्षा माँगकर लाते हैं। पता नहीं कितने लोगों को देते हैं ! वे लोग जिसे उचित समझेंगे, उसी को तो देंगे?

माँ उसे एक रुपया और एक वस्त्र देकर बोलीं, "आज यहाँ थोड़ा-सा खाकर जाना।" माँ छत पर बैठी हैं, नीचे खाना पक रहा है। उस महिला ने कहा, "माँ, बच्ची कहती है कि भोजन का कितना सुन्दर गन्ध है !"

माँ बोलीं, "क्यों जी, यह सब बात क्या कहनी चाहिए? ठाकुर का भोग होगा।" प्रसाद खाते समय माँ ने रसोइये से उस बच्ची को थोड़ा अधिक सब्जी आदि देने को कह दिया। खाना समाप्त हो जाने पर उस महिला ने कहा, "खूब खायी हूँ, माँ, बच्ची तो उठना ही नहीं चाहती।"

माँ – ठीक है। अब खाना हो गया है न, नीचे जाकर हाथ-मुँह धो लो।

महिला के नीचे चले जाने पर माँ ने कहा, "कितनी निर्धनता की अवस्था है ! इतना लोभ – उसने इतना खाया, इतना खाया कि उल्टी होने की हालत हो गयी। इतनी बड़ी लड़की है, परन्तु जरा भी बुद्धि नहीं है। इन लोगों का कुछ नहीं होता, दुर्भाग्य की दशा है।"

उन लोगों के ऊपर आने पर माँ ने उन लोगों को पान देकर कहा, "अब तुम लोग चलो।"

उन लोगों के चले जाने पर माँ कमरे में तख्त के ऊपर लेटकर हम लोगों के साथ बातें करने लगीं। कहने लगीं, "काशी में कितने प्रकार के लोग रहते हैं ! इसी प्रकार कितने ही लोग आते हैं और मुझसे कहते हैं, 'आप लड़कों से मेरी थोड़ी सहायता करने को कह दीजिए।' मैं भला क्या कहूँगी, बोलो? वे लोग जैसा उचित समझेंगे; वैसा ही तो करेंगे। हे भगवान, यहाँ कितने गरीबों का निवास है ! वे लोग भी क्या करेंगे, बोलो तो? यही देखो न, अनाथ वृद्धाओं के लिए आश्रम किया है। उनकी कितनी सेवा होती है, कितनी देखभाल होती है ! रोगियों के लिए अस्पताल है। फिर बाहर के कितने लोगों की ये लोग सहायता करते हैं, उसका कोई ठिकाना है? लड़के क्या ही परिश्रम करते हैं ! सब उन्हीं की इच्छा है, बेटी। कहाँ से क्या करा रहे हैं, यह वे ही जानें।"

एक दिन मैं अपराह्न में गयी, तो देखा कि माँ बरामदे में बैठीं कुछ विधवाओं से बातें कर रही हैं। उनमें से एक गेरुआ वस्त्र पहने थीं। उन्होंने माँ को एक भजन सुनाया – (भावार्थ) – "रे जवा, तू वन का फूल, वन में खिलकर वन की शोभा बढ़ानेवाला है, तू जरा ठहर। तुझे शिव के सीने पर चढ़ा देखकर लगता है, मानो माँ-काली के दोनों चरण हों।"

गोलाप-माँ – अहा, यह भजन कितना अद्भुत है ! एक और गाओ न।

उस बालिका ने एक भजन और गाया।

माँ – तुम लोगों ने सेवाश्रम देखा है?

सुधीरा दीदी – नहीं, हमने नहीं देखा।

माँ – तो फिर गोलाप के साथ जाकर देख आओ।

एक अन्य दिन अपराह्न में मैं माँ के पास गयी थी। माँ देवव्रत महाराज और शचिन के बारे में बोलने लगीं। वे लोग सहसा अन्यत्र चले गये हैं।

माँ – अहा ! बेटी, देवव्रत आज चला गया। कम्पनी (ईस्ट इंडिया कं. अर्थात् अंग्रेज सरकार) ने सेवाश्रम के बगल की जमीन प्राप्त करने में सहायता करने को कहा है; और उन लोगों के रहने पर आपत्ति व्यक्त की है, इसीलिए राखाल ने उनसे अन्यत्र चले जाने को कहा। जानती हो न जी, उनका कोई दोष नहीं है, तो भी उनके पीछे एक गुप्तचर लगा रहता है। अहा, बच्चे खाकर नहीं गये।"

सुधीरा दीदी – दादा और शचीन हमारे पास खाकर गये।

माँ – अहा ! बेटी, खाकर गये? तब तो ठीक है। मैं इसी को लेकर चिन्तित थी।

सुधीरा दीदी – दादा जहाँ कहीं भी जाते हैं, वे लोग उनकी खोज-खबर लेते रहते हैं। इसीलिए दादा कहते हैं, "मेरे ससुराल के लोग आये हैं, जाकर मिल आऊँ।"

माँ – ससुराल के ही लोग तो हैं, बेटी। कितने काल पहले वे स्वदेशी-आन्दोलन में पकड़े गये थे और ये लोग अभी तक इनकी निगरानी करते हैं! क्या कहूँ बेटी, ये दोनों बेटे खाकर नहीं गये, इसलिए दिन भर मन कैसा कर रहा था। खैर तेरे पास खाकर गये हैं, यह सुनकर प्राण ठण्ड़ा हुआ।

❖ (क्रमशः) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनर्प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

गहरे पानी पैठ

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, अम्बिकापुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हिन्दी में कहावत है, 'बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय। काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाय।' जब मैं जीवन की ओर दृष्टिपात करता हूँ, तो यह कहावत कितनी सत्य मालूम पड़ती है। हम जल्दी में निर्णय लेकर कोई क्रिया कर बैठते हैं और जीवन-भर उसके फलस्वरूप बिसुरते रहते हैं। जब हम बचपन में कोई काम जल्दी जल्दी कर लेना चाहते थे, तो घर के बड़े-बूढ़े कहते थे – 'जल्दी का काम शैतान का'। उस समय तो बात समझ में नहीं आती थी, पर बाद में प्रतीति होती थी कि हाँ, जल्दी करके हमने कितनी बड़ी भूल कर ली है।

हम कभी व्यक्ति की किसी एक छोटी-सी क्रिया को देखकर उसके सम्बन्ध में एक मत बना लेते हैं। हमें लगता है कि वह कितना अहंकारी है, अपने को बड़ा मानता फिरता है और शायद हम ऐसा सोचकर उसके प्रति अवांछित क्रिया कर बैठते हैं। जब उसके साथ थोड़ी-सी घनिष्ठता यह बताती है कि वह अहकारी नहीं है, बल्कि संकोची है और वह सकोच के कारण अपने को अलग-थलग रखता है, तब हमें अपनी भूल मालूम होती है और हमें अपने किये का पश्चात्ताप होता है।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। गृहिणी पानी भरने कुएँ पर गयी थी। घर में उसका छोटा बच्चा सोया हुआ था। उसके घर एक पालतू नेवला था। जब वह पानी भरकर आयी, तो नेवला दौड़कर दरवाजे पर आया और अपना मुँह उठा-उठाकर गृहिणी की ओर देखने लगा। गृहिणी ने देखा कि नेवले के मुख में खून-ही-खून लगा हुआ है। उसे लगा कि नेवले ने उसके छोटे बच्चे को काट खाया है। उसके मन में इतना रोष पैदा हुआ कि उसने जल का पात्र नेवले पर दे मारा और जोरों से दौड़कर वह घर में घुसी। जाकर क्या देखती है कि उसका बच्चा सुरक्षित सोया हुआ है और उसके पास ही एक विषधर सर्प के कई टुकड़े पड़े हुए हैं। तब सारी बात गृहिणी की समझ में आ गयी और वह जब दरवाजे की ओर दौड़ी। नेवले ने उसके बच्चे को साँप से बचा लिया था। पर नेवला तो चकनाचूर होकर मृत पड़ा था।

यह कथा हमारा मार्गदर्शन करती है। मुझे अपने जीवन में इस कहानी से बड़ा लाभ मिला है। जब कुछ तथ्यों के आधार पर मैं कोई निर्णय शीघ्रता में लेने लगता हूँ, तो यह कहानी याद आ जाती है और मैं निर्णय को रोक देता हूँ। कुछ समय बीतने पर जब और कुछ तथ्य मिलते हैं, तब सोच-विचार कर निर्णय लेता हूँ। मैंने पाया है कि जल्दी में लिया गया निर्णय हरदम अपूर्ण होता है और उससे हानि ही होती है।

जीवन में सफलता का रहस्य हमारे लिये गये निर्णयों में निहित होता है। सफल व्यक्ति के जीवन का अध्ययन करने पर हम पाएँगे कि वह जल्दबाजी में कोई निर्णय नहीं लेता, निर्णय लेने के पहले वह गहराई में पैठता है और पक्ष-विपक्ष – दोनों को तौलकर तब निर्णय लेता है। उथला व्यक्ति जीवन में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। जीवन में सफलता किसी बात की गहराई में पैठने की हमारी क्षमता पर निर्भर करती है।

यहाँ एक बात कह दें कि कार्यकुशल व्यक्ति भी अपना कार्य शीघ्र कर लेता है, पर वह हड़बड़ी में काम नहीं करता। काम में कुशल होना और हड़बड़ी में काम करना – ये दोनों अलग अलग बातें हैं। हमें कार्यकुशल होना चाहिए, हड़बड़ी में काम करनेवाला नहीं।

ब्रह्मचर्य की महिमा (१)

स्वामी त्रिगुणातीतानन्द

(अमेरिका मे अपने दिग्विजय-अभियान की समाप्ति के बाद स्वदेश लौटकर युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने १ मई १८९७ ई. के दिन कोलकाता मे स्थित बलराम-मन्दिर में भगवान श्रीरामकृष्ण देव के समस्त संन्यासी तथा गृही शिष्यों की एक सभा बुलायी और भारत एवं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण को ध्यान में रखकर 'रामकृष्ण मिशन समिति' नाम से एक अभिनव संघ का गठन किया। उसके बाद से उसी स्थान पर प्रति सप्ताह संघ की बैठकें हुआ करती थीं, जिनमें अन्य चर्चाओं के साथ ही धर्मचर्चा भी हुआ करती थी। कुछ ऐसी ही चर्चाओं के विवरण हम त्रैमासिक 'विवेक-ज्योति' के १९९७ के दो अंकों में प्रकाशित कर चुके हैं। १८९८ ई. की ऐसी ही एक साप्ताहिक सभा में श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी ने बँगला भाषा में 'ब्रह्मचर्य' पर प्रस्तुत निबन्ध पढ़ा था, जो बाद में पाक्षिक 'उद्‌बोधन' के चौथे वर्ष में प्रकाशित हुआ था.। निबन्ध के महत्त्व को देखते हुए १९२३ ई. में इसे एक लघु पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित किया गया। उसी पुस्तिका से इसका हिन्दी अनुवाद किया है ब्रह्मचारी नित्यशुद्धचैतन्य जी ने, जो सम्प्रति इसी आश्रम के अन्तेवासी हैं। – सं.)

कमो-बेश हजार वर्ष बीत गये। कलियुग के लोगों की दुरवस्था देख अतीव दुःखपूर्वक श्री शंकराचार्य ने कहा था –

बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः
तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्-चिन्तामग्नः
परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।।

– हाय! बचपन तो खेल में बीत गया; युवावस्था के दौरान इन्द्रिय-सुखों में ही मत्त रहे; जब वृद्ध हुए तो विविध प्रकार की चिन्ताओं से ग्रस्त हो गये; परन्तु कभी भी परब्रह्म में चित्त को लगा नही सके।

श्री शंकराचार्य ने मनुष्य की इससे भी अधिक शोचनीय अवस्था का वर्णन करते हैं –

अंगं गलितं पलितं मुण्डं
दन्तविहिनं जातं तुण्डम्।
करधृतकम्पित-शोभित-दण्डं
तदपि न मुंचत्याशा-भाण्डम्।।

– ओह! कैसा संकट है! वृद्ध हो गये। शरीर में बुढ़ापा आ गया और वह कुबड़ा हो गया। सारे दाँत गिर गये। क्रमशः इतने वृद्ध हो गये कि डण्डे के सहारे चलने पर भी देह काँपने लगी। मृत्यु जब सिर के पास आ पहुँची, तो भी वह वृद्ध भोग की आशा नहीं छोड़ पा रहा है। इससे बढ़कर मनुष्य की और क्या दुर्गति हो सकती है !!

शंकराचार्य एक स्थान पर कहते हैं – **जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्** – जितने प्रकार के सृष्ट जीव हैं, उनमें मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है। अति दुर्लभ क्यो है? क्या कारण है इसका?

यल्लाभान्नापरो लाभो – जिसके प्राप्त करने पर अन्य कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रह जाता। **यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानम्** – जिसे जान लेने पर अन्य कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। **यद्दृष्ट्वा नापरं दृश्यम्** – जिसका दर्शन कर लेने पर अन्य कुछ देखने की इच्छा नहीं रह जाती। **यद् भूत्वा न पुनर्भवः** – जो होने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। ऐसा जो पदार्थ है, उसे केवल मनुष्य योनि में ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्य प्राणियों के शरीर में प्राप्त करना सम्भव नहीं है; इसलिए शास्त्र में मनुष्य-जन्म की दुर्लभता का इतना गुणगान किया गया है। इससे बढ़कर विडम्बना और क्या हो सकती है कि ऐसा दुर्लभ मानव-जन्म हम लोग लापरवाही में गँवा रहे हैं, ऐसे अमोल नर-जन्म की सार्थकता तथा उत्तरदायित्व का हम जरा भी बोध न करके, सतत अनुचित आचरण के द्वारा हम स्वयं ही अपना काफी अमंगल कर रहे हैं। शंकराचार्य जी कहते हैं –

इतः को न्वस्ति मूढात्मा, यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।
दुर्लभं मानुषं देहं, प्राप्य तत्रापि पौरुषम्।।

– उससे बढ़कर मूढ़ व्यक्ति और कौन होगा, जो इस दुर्लभ नरदेह और विशेषकर पुरुष शरीर को पाकर भी, मोक्षप्राप्ति की चेष्टा न करके जागतिक कामनाओं की पूर्ति में जुटा रहता है?

मोक्ष-प्राप्ति की चेष्टा तो दूर की बात है, बल्कि हम लोग तो क्रमशः अधिकाधिक मोहाच्छन्न होते जा रहे हैं। इसी पर सम्यक् रूप से चर्चा करना आज की सभा का विषय-वस्तु है। जो मनुष्य एक समय रोगशून्य थे, वे आज क्यों महामारी के भय से आतंकित हैं? जो मनुष्य कभी, जो इच्छा वही कर पाते थे, वे ही आज क्यों अत्याचार के भय से पलायन कर रहे हैं, जो मनुष्य पहले निष्ठापूर्वक – **न मे मृत्यशंका न मे जातिभेदः** आदि पंक्तियों का नित्य गायन किया करते थे एवं तदनुरूप धारणा भी रखते थे, वे आज क्यों अपने मन को तरह तरह के भयों तथा चिन्ताओं से उद्विग्न करके महा-अशान्ति के सागर में निमग्न कर रहे हैं? इसका कारण क्या है? इसका कारण अन्य कुछ नहीं – एकमात्र ब्रह्मचर्य का अभाव ही है। आज उसी ब्रह्मचर्य विषय पर हम थोड़ी चर्चा करेंगे।

जिस समाज में कभी एक बालक ने अपने ज्ञान-गर्भित उत्तर के द्वारा प्रश्न करनेवाले अद्वितीय दिग्विजयी महात्मा को भी स्तब्ध कर दिया था; जिस समाज में कभी नचिकेता के समान तेजस्वी बालक ने जन्म लिया था; जिस मानव की सन्तान के रूप में कभी शुकदेव आदि ऋषियों ने जन्म ग्रहण किया था; उसी मानव की आज ऐसी दुर्दशा क्यों हो रही है? वही मानव आज क्यों विमूढ़ होकर अपने आपको तरह-तरह

के संकटों से घिरा हुआ महसूस करता है? इसका कारण है – हम लोगों में उसी सनातन तेजस्विता का अभाव हो गया है, उसी सनातन वीरता का अभाव हो गया है; इसका एकमात्र कारण है – ब्रह्मचर्य का अभाव। बिना ब्रह्मचर्य के किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं की जा सकती।

अब हम देखेंगे कि 'ब्रह्मचर्य' शब्द का क्या तात्पर्य है? और ब्रह्मचर्य से हम लोग क्या समझते हैं? पातंजल-योगसूत्र के भाष्य में एक स्थान पर मिलता है – **ब्रह्मचर्यमुपस्थनियमो वीर्यधारणं वा** – ब्रह्मचर्य का वास्तविक तात्पर्य तथा मुख्य लक्षण है – वीर्यधारण। लौकिक, पारलौकिक या पारमार्थिक – सभी क्षेत्रों में, किसी भी विषय में उन्नति करने के लिये वीर्यधारण परम आवश्यक है। शरीर-पालन कहो, मंत्र-साधन कहो, परोपकार कहो, स्वयं का उपकार कहो – कोई भी कार्य वीर्य या तेज के बिना सुचारु रूप से सम्पन्न नहीं होता। प्रसिद्ध चिकित्सक निकोलस भी ठीक इसी तरह की बात कहते हैं – "The suspension of the use of the generative organs is attended with a notable encrease of bodily and mental vigour and spiritual life." अर्थात् वीर्यधारण करने से शारीरिक तथा मानसिक तेज एवं आध्यात्मिक शक्ति में भी वृद्धि होती है, यह स्पष्ट रूप से देखने में आता है। इसीलिए कहता हूँ कि चाहे भौतिक जीवन हो या आध्यात्मिक जीवन, ब्रह्मचर्य के बिना मानव के किसी भी जीवन में वास्तविक मंगल की आशा नहीं है। परमहंसदेव कहा करते थे – जैसे कांच के पीछे पारा लगा देने से उसमें प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही जो लोग वीर्य धारण कर सके हैं, ऊर्ध्वरेता हैं, उन्हीं की बुद्धि में ब्रह्म की छाया पड़ती है। जो वास्तविक ब्रह्मचारी हैं, उन्हीं में ब्रह्म की छाया पड़ती है। जिस व्यक्ति के हृदय में ब्रह्म की छाया पड़ती है, वह जो चाहे कर सकता है, वह जिस कार्य में हाथ डालेगा, वही भलीभाँति सम्पन्न होगा – इसमें भी भला कोई सन्देह की बात है? इसीलिए कहता हूँ कि बिना ब्रह्मचर्य के हम लोगों का जीवन ही व्यर्थ है।

'ब्रह्मचर्य' का शब्दकोशीय अर्थ है – **ब्रह्मणे वेदार्थं चर्यं आचरणीयम्**। यहाँ ब्रह्म का अर्थ है 'वेद'। अर्थात् वेदपाठ के लिये जो आश्रम वरणीय है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। वेद-पाठ सामान्यत: बाल्यकाल में होता है, इसीलिए चार आश्रमों में से पहले का नाम है – 'ब्रह्मचर्य आश्रम'। यह ब्रह्मचर्य आश्रम सबके लिये और विशेषकर ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य – इन तीन वर्णों के लिये पालनीय है। 'ब्रह्मचारी' शब्द 'ब्रह्मचर' शब्द के बाद णिनि प्रत्यय लगाकर बना है।

ब्रह्मचर्य आश्रम अवश्य आचरणीय है। क्यों? किस कारण? इसलिए कि ब्रह्मचर्य आश्रम में सभी महान् गुणों का अभ्यास कराया जाता है और यह अभ्यास भी बड़ी सरलता से किया जा सकता है। आजकल अनेक देशों में बचपन से ही केवल अर्थकरी विद्या सिखाने की प्रथा हो गयी है। ब्रह्मविद्या तो दी ही नहीं जाती और चरित्र-निर्माण की ओर भी कोई खास ध्यान नहीं दिया जाता। पर हमारे देश में पहले ऐसी प्रथा नहीं थी। शुरू में ही चरित्र-निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाता था, फिर ब्रह्मविद्या प्रदान की जाती थी और अन्तत: कोई कोई अर्थकरी विद्या का भी उपदेश देते थे। परन्तु उन दिनों सभी लोग जानते थे कि चरित्र एवं ज्ञान ही विशेष आवश्यक है। जिसके पास चरित्र और ज्ञान है, उसके पास धन आदि सारी वस्तुएँ स्वत: चली आती है; चरित्र और ज्ञान धन का नहीं, बल्कि धन ही इन सबका अनुगामी है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में समस्त महान् गुणों का अभ्यास किया जाता है, इसीलिए यह अवश्य आचरणीय है। मनु कहते हैं –

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
संनियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मन: ।।

– ब्रह्मचारी स्वयं की तपस्या में वृद्धि के हेतु गुरुगृह में वास करते हुए एवं समस्त इन्द्रियों का हर प्रकार से संयमन करते हुए इस व्रत का पालन करेगा। जैसे – गुरुसेवा, जप-तपादि, अहिंसा, कठोरता आदि।

ब्रह्मचर्य आश्रम सभी आश्रमों का मूल आधार है। गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास – ये तीनों ही पूर्णत: ब्रह्मचर्य आश्रम पर ही निर्भर करते हैं। जैसे कोई अट्टालिका चाहे कितनी ही सुन्दर तथा विशाल क्यों न हो, पर यदि उसकी नींव कच्ची हुई, तो उसे स्थायी नहीं कहा जा सकता। वैसे ही ब्रह्मचर्य आश्रम का ठीक पालन न होने पर कोई भी आश्रम सुसम्पन्न नहीं होता है; यहाँ तक कि किसी आश्रम का अधिकारी तक नहीं हुआ जा सकता है। भगवान श्रीमद्भागवत में कहते हैं –

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोमल: ।।
अथानन्तरमावेक्षन् यथाजिज्ञासितागम: ।
गुरवे दक्षिणां दत्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदित:।।
गृहं वनं वोपविशेत् प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तम: ।

– ब्रह्मचारी जब ब्रह्मचर्य आश्रम के तीव्र तपस्या के कारण ब्रह्मतेज से अग्निवत् जाज्वल्यमान रहेगा और अपनी सारी कामनाएँ भस्मीभूत हो जाने पर जब वह विशुद्धचेता हो जायेगा, तब गुरु उसकी परीक्षा लेंगे, परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर वह यथेच्छा किसी भी आश्रम में जा सकेगा – गृहस्थ भी हो सकेगा, वानप्रस्थी भी हो सकेगा या संन्यासी भी हो सकेगा। निष्कर्ष यह है कि बिना ब्रह्मचर्य के किसी भी आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। अत: ब्रह्मचर्य आश्रम सबके लिये अवश्य आचरणीय है।

ब्रह्मचर्य इतना उच्च, महान् तथा आवश्यक है कि यह मात्र एक आश्रम-विशेष का नाम ही नहीं है और ऐसी बात भी

नहीं कि ब्रह्मचर्य का केवल बचपन में ही पालन करना होगा। ऐसा भी नहीं है कि केवल मानव-जीवन की नींव का निर्माण करके ही ब्रह्मचर्य को छुट्टी मिल जाती हो। ऐसा नहीं है कि केवल मानव-जीवन के प्रथम सोपान में ही ब्रह्मचर्य का कार्य समाप्त हो जाता हो। इसका कार्य मनुष्य के पूरे जीवन भर चलता रहता है। जिस प्रकार बिना चूना-सुरखी के अट्टालिका का निर्माण असम्भव है, उसी प्रकार बिना ब्रह्मचर्य मानव-जीवन का गठन विडम्बना मात्र है। जैसे भवन के किसी स्थान पर चूना-सुरखी की शक्ति कम होने से उस स्थान पर भवन भग्नप्राय हो जाता है, वैसे ही मानव-जीवन के किसी भी भाग में यदि ब्रह्मचर्य की शक्ति का ह्रास होता है, तो उस भाग में उस जीवन का पतन ही कहना होगा। ब्रह्मचर्य आश्रम के जो सब गुण हैं, उन सबकी प्राय: सभी आश्रमों में ही आवश्यकता होती है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की तो बात ही क्या, गृहस्थाश्रम तक में ब्रह्मचर्य बहुत आवश्यक है। बिना ब्रह्मचर्य के, शास्त्र के अनुसार गृहस्थाश्रम में यज्ञ करना पूर्णत: असम्भव है। बिना संयम, बिना जितेन्द्रियता के जो लोग गृहस्थाश्रम में रहते हैं, वे प्राय: ही व्यभिचार-दोष से दूषित होते हैं या वेश्या-गमन के पाप में डूबते हैं। जिसका जिसमें अधिकार नहीं, उसका यदि वह ग्रहण अथवा भोग करता है, तो उसे व्यभिचार दोष लगता है। परमहंस देव गृहस्थ आदि सभी से कहते थे – "अद्वैत-ज्ञान आँचल में बाँधकर (जीवन के) सारे कार्य करो।" इसके अलावा वे खूँटी पकड़कर घूमना, चिउड़ा कूटना, उत्तर-पश्चिमी भारत की महिलाओं द्वारा (सिर पर एक के ऊपर एक घड़े रखकर) जल लाना आदि सुन्दर-सुन्दर उपमाओं द्वारा समझा देते थे कि कैसे तथा किस प्रकार गृहस्थाश्रम का पालन किया जाता है।

उनके उपदेशानुसार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पहले ब्रह्मचर्य का विशेष अभ्यास चाहिए, पहले जितेन्द्रिय होना चाहिए, संयम-विद्या का अभ्यास होना चाहिए। एक शब्द में कहें तो पहले साधु होना पड़ता है। इसी कारण किसी किसी के मतानुसार गृहस्थाश्रम को ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा जाता है। गृहस्थाश्रम पशुओं के लिये नहीं है, यह अति पवित्र है, यह शुद्ध चित्तवाले ब्रह्मचारियों के लिये है। ईश्वर ने पशुओं के लिये किसी भी आश्रम की सृष्टि नहीं की है। किसी भी शास्त्र में ऐसा नहीं है कि इन्द्रियों के दास बनकर गृहस्थाश्रम का पालन करना। जिस आश्रम में साधु-संन्यासी, यहाँ तक कि स्वयं नारायण आकर द्वार पर खड़े हो रहे हैं, जरा सोचिए तो वह कितना पवित्र आश्रम होगा; जरा विचार कीजिये कि उस आश्रम में कितनी सावधानीपूर्वक रहना होगा। ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, वानप्रस्थी हो या संन्यासी; बिना ब्रह्मचर्य किसी का भी कल्याण नहीं है, देश का भी भला नहीं होगा और संसार में भी शान्ति नहीं होगी।

ऐसी बात नहीं है कि केवल हमारे ही देश में और हमारे ही धर्म में ब्रह्मचर्य की इतनी महत्ता और इतनी आवश्यकता हो। इस पृथ्वी पर जितने भी देश हैं, जितने भी धर्म हैं, सभी एक स्वर में इस ब्रह्मचर्य का गुणगान कर रहे हैं। जो ब्रह्मचर्य इस देश में है, वही ब्रह्मचर्य सर्वत्र एक स्वर में गुंजित हो रहा है। पहले संसार में अन्य कहीं भी ब्रह्मचर्य नहीं था; सर्वप्रथम वैदिक ऋषियों ने ही भारतवर्ष में ब्रह्मचर्य की स्थापना की। प्रश्नोपनिषद् में है – सुकेशा भारद्वाज आदि छह ब्रह्मनिष्ठ लोग जब ज्ञानप्राप्ति के लिए पिप्पलाद ऋषि के निकट उपस्थित हुए, तब ऋषि ने उन लोगों से कहा – "तुम लोग एक वर्ष और ब्रह्मचर्य और तपस्या करके आओ, उसके बाद मैं तुम लोगों को ज्ञानोपदेश दूँगा।" इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् के इन्द्र-विरोचन संवाद में कहा है कि प्रजापति ने इन्द्र से एक सौ एक (१०१) वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करवाने के बाद ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था।

इसी भारतवर्ष से उस ब्रह्मचर्य का बीज मिस्र देश में नव-प्लेटोनिस्टों और यूनान के पाइथागोरस आदि के पास पहुँचा। तत्पश्चात् यह क्रमश: यूरोप के विभिन्न स्थानों में थोड़ा-थोड़ा फैल गया। यह तो हुई यूरोप-अफ्रीका की बात। इधर एशिया में भी चारों ओर इस भारतवर्ष ने ही ब्रह्मचर्य का बीज प्रेषित किया। फारस देश में पारसियों ने इसे यहीं से ग्रहण किया। तदनन्तर बौद्ध इसे विभिन्न देश-देशान्तरों में ले गये। बौद्धों से इसे ऐशेनियों ने प्राप्त किया। और अन्त में ईसाइयों ने इसे कुछ नव-प्लेटोनिस्टों से तथा कुछ एशेनियों से प्राप्त किया। इसके बाद ईसाइयों ने भी अन्य अनेक देशों में इस ब्रह्मचर्य का प्रचार किया। देखने में आया है कि जिस-जिस देश में परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इस ब्रह्मचर्य का बीज पड़ा है, उसी-उसी देश में महान् लोग उत्पन्न हुए हैं और उन लोगों ने अपने देश तथा संसार का जितना हित किया है, उतना वहाँ का अन्य कोई नहीं कर सका। उदाहरणार्थ सेन्टपाल और सर आइजक न्यूटन आदि महात्माओं को देखें। इसलिए कहता हूँ, यदि कोई अपना तथा देश का मंगल चाहते हैं, तो वे जिस भी आश्रम में हों, ब्रह्मचर्य का पालन करना न छोड़ें।

ऐसी बात नहीं कि ब्रह्मचर्य केवल धार्मिकों के लिये ही पालनीय हो। जो धर्म नहीं मानते; जो ईश्वरवाद, पुनर्जन्मवाद आदि नहीं मानते; या जो वेद नहीं मानते; ब्रह्मचर्य उनके लिये भी समान रूप से फलप्रद है। क्योंकि परलोक या मुक्तितत्त्व न मानो तो भी, ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आनेवाली शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा तथा समाधान रूपी षट्सम्पत्तियाँ; जड़वादियों और स्वयं तथा देश के हितैषियों के लिये भी अतीव आवश्यक है। भौतिकतावादियों में भी जो अच्छे, गुणी तथा बड़े लोग हैं, वे भी इन षट्-सम्पत्तियों का काफी सम्मान करते हैं। शम-दम-तितिक्षा-उपरति-श्रद्धा और समाधान – इन षट्-सम्पत्तियों

में से किसी-न-किसी सम्पत्ति से युक्त हुए बिना कोई व्यक्ति कदापि कोई महान् कार्य नहीं कर सकता। ये छह गुण सचमुच ही षट्सम्पत्ति हैं। जिसमें शम-दम है, उसे चिन्ता ही क्या? चाहे कोई महाराजा हों या सम्राट्, यदि उनमें शम-दम आदि षट्-सम्पत्ति नहीं है, तो वे भिखारी हैं, अति निर्धन हैं। जिनके घर में धन-सम्पत्ति है, उन्हें दिन-रात तरह-तरह की चिन्ताओं एवं भय से ग्रस्त रहना पड़ता है; किन्तु जिनके घर में शम-दम आदि षट्-सम्पत्ति है, वे सम्राट् से भी बड़े हैं, वे देवताओं के भी पूज्य हैं। प्रफुल्लता और सन्तोष उनके घर में नहीं अँटता। इतना ही नहीं, वे अपनी कमायी हुई षट्-सम्पत्ति अन्य लोगों को मुक्तहस्तों से दान कर सकते हैं। इससे अधिक आनन्द और क्या हो सकता है? इसी महामारी के भय से कितने ही राजा-महाराजा आदि धनाढ्य लोग प्राण के भय से सगे-सम्बन्धियों को निराश्रित छोड़कर चले गये है; परन्तु जो लोग शम-दमादि षट्सम्पत्तियों से सम्पन्न हैं, जिनमें ब्रह्मचर्य का बीज निहित है, वे लोग स्वतंत्र एवं निर्भय हैं और अन्य अनेक लोगों को भी अभय प्रदान कर रहे हैं। जिनमें ब्रह्मचर्य है, वे ही सच्चे राष्ट्रहितैषी हैं और वास्तव में वे ही धन्य हैं।

यहाँ कोई यह न समझ ले कि ब्रह्मचारी कहने से केवल त्यागी लोगों का ही बोध होता है। मैं पहले ही कह आया हूँ कि ब्रह्मचर्य चारों ही आश्रमों में है, परन्तु ब्रह्मचारी मुख्यत: तीन प्रकार के हो सकते हैं – उपकुर्वाण ब्रह्मचारी, गृहस्थ ब्रह्मचारी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

(१) उपकुर्वाण ब्रह्मचारी – जो उपनयन के बाद गुरुगृह में रहकर वेदाध्ययन करते हैं; सन्ध्या-कर्म, अग्निकार्य, गुरुसेवा तथा भिक्षाचर्या करते हैं और बाद में ब्रह्मचर्य-काल पूरा हो जाने पर गृहास्थाश्रम में प्रवेश करते हैं।

(२) गृहस्थ ब्रह्मचारी किसे कहते हैं –

ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थः स्यात्, ब्रह्मज्ञानपरायणः ।
यद् यत् कर्म प्रकुर्वीत, तद् ब्रह्मणि समर्पयेत् ।।
– महानिर्वाण तंत्र

– अर्थात् गृहस्थ ब्रह्मचारी ब्रह्मपरायण होकर जो जो कर्म करेंगे, उन सभी कर्मों को ब्रह्म में अर्पित करेंगे।

गीता में श्री भगवान कहते हैं –

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ।।

– जो करोगे, जो खाओगे, जो होम करोगे, जो दान करोगे, जो तपस्या करोगे; उन सबको मुझमें अर्पण करो।

भगवान एक अन्य जगह कहते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

– एकमात्र कर्तव्य कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। तुममें कर्मफल के लिये कोई कामना न हो और कभी अकर्म में भी आसक्ति न हो।
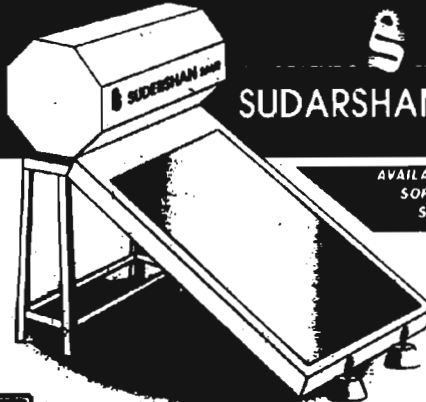
परमहंस देव कहा करते थे – जैसे नौकरानी लोगों को दिखाने के लिए मालिक का काम अपना समझते हुए करती है, उसी प्रकार गृहस्थ को भी संसार के कार्य करने चाहिए। एवं इसे ही गृहस्थ का ब्रह्मचर्य कहते है।

(३) नैष्ठिक ब्रह्मचारी – संन्यासियों की भाँति आजीवन त्यागी रहनेवाले व्यक्ति को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।

अब इन त्यागी ब्रह्मचारी या संन्यासियों के बारे में कोई-कोई कहते हैं कि विवाह न करने या गृहस्थाश्रम का पालन न करने से ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन होता है। इसका उत्तर यह है – सृष्टि के आरम्भ से ही प्रधानत: दो मार्ग चले आ रहे हैं – प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्ति मार्ग। यह ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट है। श्रुति कहती है – जब वैराग्य होगा, तभी त्याग करना, तभी संन्यास ले लेना; चाहे विवाह करने के पहले हो या बाद में। यथा – **ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद् वा वनाद् वा, यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**। सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, शुक – ये लोग आजन्म संन्यासी थे।

(शेष आगामी अंक में)

जीना सीखो (१९)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

आवश्यकता है पुनर्जीवन की

कुछ काल पूर्व हमारे देश के एक प्रतिभाशाली अधिवक्ता ननी पालकीवाला ने जापान के एक मंत्री से भेंट के समय उनसे पूछा, "आपके देशवासियों की बुद्धि की तुलना में हम भारतीय कम नहीं हैं, परन्तु आप लोगों ने विश्व के परम उन्नत राष्ट्रों के बीच एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। क्या कारण है कि हम लोग अभी भी दलदल में फँसे हुए हैं?"

जापानी मंत्री का उत्तर बड़ा महत्त्वपूर्ण था, "मित्र, जापान में हम लोग दस लाख नागरिक हैं, जबकि आप लोग साठ करोड़ व्यक्ति हैं!"

क्या ऐसी कोई सम्भावना है कि हमारी शिक्षा हमारी जनता एवं युवकों को सफलतापूर्वक देश के सच्चे नागरिक बना सके या फिर क्या यह उन्हें ऐसे व्यक्ति ही बनाती रहेगी, जो अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ सकते? जापानी मंत्री ने हम लोगों को 'व्यक्ति' कहा। क्या वह इसके साथ 'स्वार्थी' का विशेषण लगाना भूल गया या उसने जान-बूझकर ऐसा किया?

एक विदेशी पर्यटक ने 'गरीबों के समृद्ध देश' के रूप में भारत का वर्णन किया था। यह कैसा विरोधाभास है? और इस विरोधाभास का क्या कारण हो सकता है?

हाल के दशकों के दौरान इजरायल देशभक्ति, उद्यम तथा साहस का एक अभूतपूर्व भाव दिखाकर एक महान् राष्ट्र के रूप में विकसित हुआ है। एक हजार वर्ष पूर्व वे लोग अपनी मातृभूमि को खोकर सारे विश्व में बिखर गए थे। परन्तु आज वे अपने छोटे-से देश में जम गए हैं और एक शत्रुतापूर्ण पड़ोसी के होते हुए भी महत्वपूर्ण उन्नति कर रहे हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे अद्भुत विकास कर रहे हैं। उन्होंने रेगिस्तान को स्वर्ग में परिणत कर लिया है।

हम जिस मानव-जाति के हैं, इजराइल तथा जापान भी उसी के हैं। तो फिर हम लोगों के बीच इस भेद का क्या कारण हो सकता है?

उपरोक्त दो देशों का एक लक्ष्य या उद्देश्य है; वे लोग एकता का भाव स्थापित करना चाहते हैं, जिसके फलस्वरूप स्वाभिमान का भाव उत्पन्न होता है – अपने देश तथा अपनी जनता के विषय में स्वाभिमान का भाव। भारतवासियों ने अपना लक्ष्य भुला दिया है और हम अपनी स्वयं की पहचान के विषय में ही अस्पष्ट हैं। संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों पर ही राष्ट्रीयता का भाव आधारित होता है। इन सिद्धान्तों से व्यक्ति के कल्याण तथा राष्ट्र के उन्नति के विषय में सच्ची संवेदना उत्पन्न होती है। यदि ये सत्य लोगों के मन में गहराई तक पैठ जायँ और उनमें इनके विषय में ठीक ठीक विश्वास जम जाय, तो व्यक्ति तथा राष्ट्र – दोनों के ही उत्थान की आशा की जा सकती है।

विदेशी उपनिवेशवादी सरकार ने अपने कार्यालयों में काम करने के लिए लिपिकों की फौज तैयार करने के लिए जिस शिक्षा-प्रणाली को चलाया था, उसे आज भी अबाध गति से चलाया जा रहा है। मैकाले द्वारा आरम्भ की गयी शिक्षा-प्रणाली हम भारतियों के मन में अपनी संस्कृति एवं परम्परा के प्रति घृणा तथा पश्चिमी जीवन-धारा के प्रति सम्मान एवं प्रशंसा का भाव स्थापित करने में सफल रही है। वैसे अब उस शिक्षा-प्रणाली के साथ विज्ञान तथा प्रद्योगिकी का भी संयोजन हो गया है, परन्तु क्या इस शिक्षा में एक सम्पूर्ण एवं ठोस व्यक्तित्व का निर्माण करने की पद्धति का भी समावेश है? क्या इस प्रकार शिक्षित मनुष्य राष्ट्र की एक उत्पादक इकाई बन रहा है? क्या वह स्वावलम्बी बन रहा है? या कहीं इसके विपरीत वह समाज एक परोपजीवी तो नहीं बन रहा है? हमारी शिक्षा पढ़ना, लिखना तथा जोड़ना-घटाना सिखाती है और कुछ तकनीकी कार्यों में भी प्रशिक्षित करती है। परन्तु यह संस्कृति का वह आवश्यक गुण प्रदान करने में नाकाम क्यों रही, जो हमें एक संगठित राष्ट्र के रूप में रहने में सक्षम बनाती है? यदि शिक्षा स्वतंत्रता, रचनाशीलता, जनकल्याण, परिश्रम से लगाव और अल्पाधिक मात्रा में नैतिकता का भाव नहीं दे सकती, तो क्या यह हमारी जनता में दुर्बलता लाकर उन्हें निकम्मा नहीं बना देती?

अंग्रेजों ने हमारे अन्दर जो इस भाव का वपन किया था, "तुम लोग केवल गुलाम बनने के ही योग्य हो" – क्या यह अब भी भारतवासियों की आत्मधारणा का एक अंग बना हुआ है? यह भाव दृढ़ भी हो, तो मिटाया जा सकता है। जाति-सम्प्रदाय से निरपेक्ष, हमारे समाज की आत्म-धारणा को ठीक करने का एक सहज उपाय है और वह है विश्वास का भाव।

विश्वास – शक्ति का स्रोत

दृढ़ विश्वास क्या केवल शारीरिक रोगों के उपचार ढूँढने में ही उपयोगी है? हमें जानना होगा कि जीवन में व्यक्ति की

प्रगति में विश्वास क्या योगदान कर सकता है। विश्वास अपना प्रभाव कैसे उत्पन्न करता है? यह जीवन में आलोक कैसे लाता है? इसकी सम्भावनाएँ क्या हैं? इसके रहस्य क्या हैं?

क्या विश्वास का केवल धर्म में ही स्थान है? तथाकथित बुद्धिजीवियों में धर्म से सम्बन्धित किसी भी चीज के लिए एक तरह की भीति का भाव विकसित हो गया है और वे विश्वास को अन्धश्रद्धा मात्र मानते हैं। परन्तु हमारे अधिकांश बुद्धिजीवी नहीं जानते कि पश्चिमी जगत् में धर्माचार्यों तथा वैज्ञानिकों के बीच हुए संघर्ष के अन्धानुकरण में ही इस भीति की जड़ निहित है। (इसके फलस्वरूप) अनेक आधुनिक विचारकों के लिए हर तरह के विश्वास को अन्धश्रद्धा समझने का एक फैशन ही चल पड़ा।

ऐसी बात नहीं कि धर्म के नाम पर निरर्थक कार्य न होते रहे हो। यह सत्य है कि अन्धविश्वास मानव-प्रगति के मार्ग में बाधक है, पर अपने मत को ही परम सत्य मानकर कट्टरतापूर्वक बहस करना तो अन्धविश्वास से भी कहीं अधिक खतरनाक है। क्या विश्वास के आलोचक वास्तव में सच्ची श्रद्धा के तात्पर्य तथा महत्व को समझने का प्रयास करते हैं? किसी चीज को समझने का वास्तविक प्रयास किये बिना ही उसकी निन्दा करना क्या अनावश्यक कठोरता नहीं है? क्या श्रद्धा के आलोचकों ने कभी इसकी उपयोगिता तथा लाभों को समझने के लिए व्यक्तिगत रूप से अपनी बुद्धि को लगाकर उसकी जाँच करने का प्रयास किया है? विश्वास दिलाए बिना वे अपने अनुयाइयों में कौन-सी शक्ति भर सकेंगे? विश्वास ही जीवन की एक मूलभूत जरूरत है। यहाँ तक वैज्ञानिक भी ब्रह्माण्ड का अपना अध्ययन इस मूलभूत विश्वास के साथ शुरू करता है कि यह कुछ ऐसे तथ्यों पर आधारित है, जिनका विश्लेषण करके उन्हें नियमों में परिणत किया जा तकता है। दृढ़ विश्वास की नींव के बिना क्या हम अपनी इच्छाओं तथा उद्देश्यों को पहचान कर उनकी पूर्ति के लिए प्रयास कर सकते हैं? अन्धविश्वास की निन्दा करना तो ठीक है, परन्तु उन्हें यह दिखाना अधिक आवश्यक है कि सच्चा विश्वास किसे कहते हैं और यह अन्धविश्वास से कैसे पृथक् है। केवल 'अन्धकार है', 'अन्धकार है' – चिल्लाते रहने की अपेक्षा क्या दीपक जला देना अधिक अच्छा नहीं है? अन्धकार से घृणा ही यथेष्ट नहीं है, रोशनी से प्रेम भी आवश्यक है। झूठ को नकारना अच्छा है, पर सत्य को दिखाना भी उतना ही आवश्यक है। जो लोग अन्धकार से घृणा करते हैं, उनके बारे में आशंका है कि वे निरन्तर अन्धकार का ही चिन्तन करते-करते उसी में स्वयं भी न डूब जायँ। अनजाने ही अन्धकार के दूत में भी परिणत हो सकते हैं। अत: प्रकाश की ओर ध्यान देना ही बेहतर होगा।

विश्वास आत्मा का एक गुण है। यह मन की एक महान् शक्ति है। इसका हर व्यक्ति के द्वारा हर समय लाभकारी ढंग से उपयोग किया जा सकता है। विश्वास का हमारे जीवन, स्वास्थ्य, व्यवसाय तथा मन पर निश्चित रूप से सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। विश्वास वह चाभी है, जिसके द्वारा हम इस ब्रह्माण्ड के रहस्यमय खजानों को खोल सकते हैं। यह विश्वास इस जगत् में अभिव्यक्त होनेवाली सारी शक्तियों तथा महिमा के भण्डार रूपी परमेश्वर तक ले जानेवाला मार्ग है। प्रचण्ड शक्ति की भी प्राप्ति का यह साधन है। निराशा तथा विनाश काल में विश्वास ही हमें आशापूर्वक स्थिरता प्रदान करता है। गीता कहती है, "सच्ची श्रद्धावाला ज्ञानलाभ करता है।"

अब हम विश्वास के स्वरूप का चित्रण करनेवाली कुछ सच्ची घटनाओं पर चर्चा करेंगे। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "न्यूयार्क में मैं आइरिश उपनिवेशवासी को आते हुए देखा करता था – पददलित, कान्तिहीन, नि:सम्बल, अति दरिद्र और महामूर्ख, साथ में एक लाठी और उसके सिरे पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक छोटी-सी गठरी। उसकी चाल में भय और आँख में शंका होती थी। छह ही महीने के बाद यही दृश्य बिल्कुल दूसरा हो जाता। अब वह तनकर चलता था, उसका वेश बदल गया था, उसकी चाल और चितवन में पहले का वह डर दिखायी नहीं पड़ता। ऐसा क्यों हुआ? हमारा वेदान्त कहता है कि वह आइरिश अपने देश में चारों तरफ घृणा से घिरा हुआ रहता था – सारी प्रकृति एक स्वर से उससे कह रही थी कि 'बच्चू, तेरे लिए और कोई आशा नहीं है; तू गुलाम ही पैदा हुआ और सदा गुलाम ही बना रहेगा।' आजन्म सुनते सुनते बच्चू को उसी का विश्वास हो गया। बच्चू ने अपने को सम्मोहित कर डाला कि वह अति नीच है। इससे उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया। परन्तु जब उसने अमेरिका में पैर रखा तो चारों ओर से ध्वनि उठी, "बच्चू, तू भी वही आदमी है, जो हम लोग हैं। आदमियों ने ही सब काम किये हैं; तेरे और मेरे समान आदमी ही सब कुछ कर सकते हैं। धीरज धर।" बच्चू ने सिर उठाया और देखा कि बात तो ठीक ही है – बस, उसके अन्दर सोया हुआ ब्रह्म जाग उठा; मानो प्रकृति ने ही कहा हो, 'उठो, जागो, और जब तक मंजिल तक न पहुँच जाओ, रुको मत।' बच्चू अपमान की अवस्था में था। उसके मन में ज्योंही आत्म-विश्वास जागा, वह दूसरे ही आदमी में परिणत हो गया।

"अमेरिका में जो धर्म-महासभा हुई थी, उसमें अन्यान्य जाति तथा सम्प्रदायों के लोगों के साथ ही एक अफ्रीकी युवक भी आया था। वह अफ्रीका की नीग्रो जाति का था। उसने बड़ी सुन्दर वक्तृता भी दी थी। मुझे उस युवक को देखकर बड़ा कुतूहल हुआ। मैं बीच बीच में उससे बात करने लगा, पर उसके बारे में विशेष कुछ मालूम नहीं हो सका। कुछ दिनों बात इंग्लैण्ड में मेरे साथ कई अमेरिकनों की मुलाकात हुई। उन लोगों ने मुझे उस नीग्रो युवक का परिचय इस प्रकार दिया

– वह युवक मध्य अफ्रीका के सिसी नीग्रो सरदार का लड़का है। किसी कारण से वहीं के किसी दूसरे नीग्रो सरदार के साथ उसके पिता का झगड़ा हो गया और उसने उस युवक के माता-पिता को मार डाला और दोनों का मांस पकाकर खा गया। उसने इस युवक को भी मारकर खा जाने का हुक्म दे दिया था, परन्तु यह बड़ी कठिनाई से वहाँ से भाग निकला और सैकड़ों कोसों का रास्ता तय करके समुद्र के किनारे पहुँचा। वहाँ से यह एक अमेरिकन जहाज पर सवार होकर यहाँ आया। उस नीग्रो युवक ने ऐसी सुन्दर वक्तृता दी! उसके बाद भी क्या मैं तुम्हारे आनुवंशिकता के सिद्धान्त पर विश्वास करूँ?''

वह एक ऐसे परिवार से आया था, जो अनेक पीढ़ियों से अपढ़ रहा था। पर इस नये परिवेश में आकर उसे उस आत्म-विश्वास की प्राप्ति हुई, जो शिक्षारूपी दुस्साहस के लिए आवश्यक था। अध्ययन में मुझे अवश्य सफलता मिलेगी – अपने इस विश्वास के फलस्वरूप वह प्रगति करता गया। उसकी प्रतिभा प्रस्फुटित हो उठी। हर व्यक्ति में असीम अथाह ऊर्जा का भण्डार है। विश्वास उसे प्रकट कर देता है।

आनुवंशिकता की बाधाओं को पार करना

हमारे देश के अधिकांश लोगों को ऐसा दृढ़ विश्वास है कि बुद्धि या सद्गुण हमें अपने कुल या परम्परा से प्राप्त होते हैं और ऐसी पृष्ठभूमि के बिना किसी क्षेत्र मे उच्च कोटि की उपलब्धि करना सम्भव नहीं है। घर में माता-पिता और स्कूल में शिक्षक जाने या अनजाने ही बच्चों के मन में इस धारणा को बैठा देते हैं कि गुण जन्म से प्राप्त होते हैं और उन्हें हासिल नहीं किया जा सकता। कुछ लोग इसे अन्धविश्वास कहकर टाल दे सकते हैं, परन्तु कोई भी ऐसे दोषपूर्ण विचारों से मुक्त होने का रचनात्मक उपाय नहीं सुझा पाता। परन्तु सत्य तो यह है कि यहाँ तक कि औसत बुद्धि के बच्चे भी, यदि स्वस्थ हों और शुरू से ही उनका उत्कृष्ट शिक्षकों द्वारा मार्गदर्शन किया जाय, तो सफलता के शिखर पर पहुँच सकते हैं। यहाँ उल्लेखित उत्कृष्ट शिक्षकों का अर्थ यह नहीं है कि वे विलक्षण प्रतिभाशाली या पी.एच.डी. जैसी उपाधि से युक्त हों। यदि वे माँ के समान स्नेह तथा धैर्य दिखा सके और यदि उन्हें अपने अध्यापन के विषय पर यथेष्ट पकड़ हो, तो इतना ही काफी है। यदि शिक्षक जरा-जरा-सी बात पर क्रोधित हो जायँ और बच्चों को बुरी तरह डाँटने लगें, तो बच्चों का क्या होगा? जिन ईंटों से इन बच्चों के भविष्य की नींव बनेगी, उनका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। आकाशवाणी, चेन्नै के गोटूवाद्य-विशेषज्ञ श्री नरसिंहन् का व्यावहारिक अनुभव इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है, जो बच्चों को उनके रुचि के क्षेत्रों में विकसित होने में सहायता करके सफल हुए थे। उनका कहना था कि यदि कोई बच्चा ऐसे परिवार से भी आता है, जिसमें संगीत की कोई चर्चा न होती हो, तो भी वे उसे एक प्रतिभाशाली संगीतज्ञ बना देंगे, बशर्ते कि उसे तीन महीने की आयु से ही उनके पास छोड़ दिया जाय। उन्होंने बताया कि उन्होंने इस क्षेत्र में काफी शोध के बाद प्रशिक्षण की एक प्रणाली विकसित की है।

उनके मतानुसार ''माहौल शान्त और सुखद होना चाहिए। यह ध्यान रखना होगा कि बच्चे के कोमल कर्णपटह पर कर्कश ध्वनियाँ न पड़ें। बच्चे को ऐसा महसूस हो कि बड़े स्नेहपूर्वक उसकी देखभाल की जा रही है। हर छोटी-मोटी भूल के लिए उसे कटुता के साथ डाँटा न जाय। उसकी न तो हँसी उड़ाई जाय और न ही अपमान किया जाय। बच्चे के नींद से उठने पर या भोजन करते समय या सोने के पूर्व उसे धीमी गति तथा मधुर ध्वनि में सहज राग सुनाये जायँ। परन्तु इसमें किसी प्रकार का बलप्रयोग न किया जाय। संगीत कभी द्रुत लय में न सुनाया जाय। सामान्यतः, कुछ महीनों के भीतर ही बच्चा रागों के प्रति रुचि दर्शाने लगता है। उसे प्राय: ही अच्छा संगीत सुनाया जाना चाहिए। कभी कभी जब बच्चा खेल रहा होता है, तब कुछ शब्द उसे मजेदार ढंग से सुनाये जा सकते हैं और बच्चा उन्हें सुनकर गुदगुदी का अनुभव करके हँसता है। कुछ समय बाद वह चाहेगा कि आप वही शब्द फिर दुहराएँ। हाँ, अभ्यास निश्चित रूप से आवश्यक है। परन्तु अभ्यास को जबरन या भयपूर्वक की जानेवाली यांत्रिक क्रिया में नहीं परिणत हो जाना चाहिए। इस प्रकार पालित हुआ बच्चा संगीत में काफी अधिक निपुणता हासिल कर सकता है।''

क्या यह युवा लोगों के उत्साह तथा ऊर्जा को ठीक ठीक तथा उपयोगी धारा में प्रवाहित करने का और उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करने का रहस्य नहीं है?

क्या यह प्रत्येक व्यक्ति में निहित शक्ति को सक्रिय करने का रहस्य नहीं है?

क्या यह किसी भी व्यक्ति को ज्ञान के किसी भी विशेष क्षेत्र में निपुणता प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षित करने की उपयुक्त पद्धति नहीं है?

सभी बढ़ते हुए बच्चों के मन में विश्वास जगाना परम आवश्यक है। जो बच्चे धीरे धीरे सीखते हैं, विशेषकर उन्हें इस तरह के व्यवहार की आवश्यकता होती है। सुदृढ़ विश्वास हो, तो हर कोई नई नई ऊँचाइयों पर पहुँच सकता है और बहुमुखी विकास कर सकता है। शान्त वातावरण में, धैर्य तथा प्रेम की सहायता से ही इस कार्य को सर्वोत्कृष्ट रूप से सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार बच्चे के एक सम्पूर्ण मानव में विकसित होने की सम्भावना रहती है।

❖ (क्रमशः) ❖

इच्छाशक्ति का महत्व

स्वामी सत्यरूपानन्द

वह विद्युत जिसकी सहायता से सभी यंत्र चल रहे हैं। रेल, मोटर, जलयान, वायुयान, राकेट, उपग्रह आदि जो कुछ भी हम देख रहे हैं, यह सभी उनके आविष्कारकों, उनके निर्माताओं की अदम्य दृढ़ इच्छाशक्ति का ही तो परिणाम है।

सागर की छाती को चीर कर, अलंघ्य गिरि-गुहाओं को लाँघ कर, विपत्तिजनक गहन वनों में प्रवेश कर, पृथ्वी के कोने-कोने की खोज करनेवाले, प्राणों की बाजी लगाकर ज्ञान-विज्ञान के सहस्रों सत्यों तथा सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकालने वाले वीरों की कर्मठता, उनकी सफलता के पीछे उनकी वज्रदृढ़ इच्छाशक्ति ही तो थी। इसी दृढ़ इच्छा-शक्ति ने ही तो उनके गले में जयमाल डलवायी तथा उन्हें विजयी के उच्च सिंहासन पर बिठाया था।

मनुष्य के भीतर जो भी शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण और महान् शक्ति 'इच्छाशक्ति' है। यदि मनुष्य दृढ़ सकल्प कर ले, तो ससार का ऐसा कौन-सा कार्य है, जिसे वह नहीं कर सकता? कौन-सी ऐसी वस्तु है, जिसे वह प्राप्त नहीं कर सकता? कौन-सी ऐसी उपलब्धि है, जिससे वह वंचित रह जाय?

शुद्ध और सात्विक इच्छाशक्ति ईश्वरीय शक्ति है। स्वार्थ और वासनाओं के कारण इच्छाशक्ति भी कलुषित हो जाती है। इच्छा के दूषित होने पर इच्छाशक्ति भी कलुषित होकर दुर्बल हो जाती है।

इसके विपरीत मनुष्य जब किसी महत् उद्देश्य की पूर्ति के लिए निस्वार्थ भाव से शुद्धचित्त होकर कर्म करने को उद्यत होता है, तब उसकी सुप्त इच्छाशक्ति जाग उठती है। यह जागृत इच्छाशक्ति दृढ़ सकल्प द्वारा और अधिक प्रबल हो उठती है। इस प्रबल इच्छाशक्ति की सहायता से व्यक्ति मनोवांक्षित कार्य में सफल हो तृप्तकाम हो जाता है। अतः जीवन की सफलता का रहस्य दृढ़ इच्छाशक्ति ही है।

सभी मनुष्यों के भीतर कम-अधिक मात्रा में यह इच्छाशक्ति विद्यमान है। कम-अधिक मात्रा में लोग इसका उपयोग भी करते हैं। किन्तु इच्छाशक्ति का पूरा लाभ बिरले लोग ही उठा पाते हैं। इसीलिए ससार में सफल और तृप्तकाम लोगों की सख्या भी विरल है।

यह इसलिए होता है कि हमारे मन में किसी महत् आकांक्षा की पूर्ति की तीव्र इच्छा नहीं है। किसी व्यक्ति को सफल और उन्नत देखकर हमारे भी मन में थोड़ी देर के लिए उसी प्रकार सफल और उन्नत होने की चाह भर उत्पन्न होती है, किन्तु वह रेत पर खिंची रेखा के समान कठिनाई रूपी हवा के पहले ही झोंके में मिट जाती है तथा हमारी चाह खुले में रखे कपूर के समान उड़ जाती है।

इच्छाशक्ति को दृढ़ करने के लिए हमें अपने जीवन को उन्नत और महान् बनाने की तीव्र आकांक्षा रखनी होगी। उच्च जीवन के गुणों और लाभों का बार बार चिन्तन करना होगा। इस चिन्तन से हमारे मन में उस आकांक्षा की पूर्ति करने की इच्छा तीव्र होगी। यह तीव्र इच्छा हमारी इच्छाशक्ति को बलवती करेगी और हम दृढ़ संकल्प होकर आकाक्षा की पूर्ति के प्रयत्न में जुट जायेंगे तथा एक न एक दिन हम अपने मनोवांछित लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लेंगे।

अपने जन की सुध

गुलाब खण्डेलवाल

न तू सुध लेता यदि इस जन की
क्या क्या गत न बनाती मेरी,
चंचलता यह मन की।
सजा हुआ था फूलों से वन
पग-पग पर थे विकट प्रलोभन
कैसे मैं रह पाता चेतन
सुरा पिये यौवन की।
नित नव सुर से मुझे लुभाता
कहाँ-कहाँ जग था न फिराता!
खो जाता मैं यदि न जगाता
तू दे ठेस चरण की।
यदि मैं कोटि जनम भी लेकर
तेरे गुण गाऊँ निशि-वासर
उस करुणा का मोल न तिलभर
जो तूने क्षण-क्षण की।

ईसप की नीति-कथाएँ (१९)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

किसान और लोमड़ी

एक लोमड़ी एक किसान के दड़बे से मुर्गियाँ चुराकर ले जाती थी। आखिरकार एक दिन वह पकड़ी गयी। किसान ने अच्छी तरह बदला निकालने का संकल्प करके तेल में भीगी हुई एक रस्सी लेकर उसकी पूँछ में बाँध दिया और उसमें आग लगी दी। संयोगवश लोमड़ी उसी किसान के खेत की ओर दौड़ पड़ी। गेहूँ की फसल पककर तैयार थी और कटनी अभी शुरू नहीं हो सकी थी। अत: किसान की सारी फसल जलकर राख हो गयी और किसान को वर्ष भर शोक मनाना पड़ा।

क्रोध के आवेश में, बिना सोचे-समझे कोई ऐसा काम नहीं कर बैठना चाहिए, जिससे बाद में पछताना पड़े।

दार्शनिक, चींटियाँ और बुध देवता

एक दार्शनिक ने समुद्रतट से एक जहाज को दुर्घटनाग्रस्त होते देखा, जिसके सारे कर्मचारी तथा यात्री डूबकर मर गये। वह परमात्मा के इस अन्याय पर विचार करने लगा, जिन्होंने शायद उस जहाज में यात्रा करनेवाले किसी अपराधी को दण्ड देने के लिए जहाज को डुबाकर इतने सारे अबोध लोगों को मार डाला था। वह जब ये बातें सोचने में मशगूल था, तभी उसने देखा कि बहुत-सी चींटियाँ उसके शरीर पर चढ़ गयी हैं। असल में वह चींटियों की एक बाँबी के पास खड़ा था। एक चीटी ने ऊपर चढ़कर उसके मुख पर काट भी लिया। इस पर वह इतना नाराज हुआ कि उसने सारी चींटियों को पाँव से दबा-दबाकर मार डाला। उसी समय वहाँ बुध देवता प्रकट हुए और दार्शनिक पर अपनी जादुई छड़ी घुमाते हुए बोले, "जब तुम स्वयं ही चींटियों को इस प्रकार बेरहमी से मार रहे हो, तो फिर तुम्हें परमात्मा के कार्यों के औचित्य पर विचार करने का क्या अधिकार है?"

मनुष्य दूसरों के ही कार्यों के अनौचित्य पर विचार करता है, अपने कार्यों का नहीं।

चूहा और साँड़

एक गोशाले में एक चूहे ने एक साँड़ को काट लिया था। साँड़ ने नाराज होकर चूहे को पकड़ने का प्रयास किया। परन्तु चूहा सुरक्षापूर्वक अपने बिल में पहुँच गया। साँड़ ने अपने सीग से दीवाल को खोदने का प्रयास किया, परन्तु खोदकर चूहे को बाहर निकालने के पहले ही वह थक गया और बिल के बाहर ही लेटकर सो गया। चूहे ने बिल से झाँककर देखा और उसकी पीठ पर चढ़कर उसे फिर काटने के बाद उछलकर पुन: अपने बिल में छिप गया। साँड़ की नींद खुल गयी, परन्तु वह बड़े पशोपेश में पड़ गया कि क्या किया जाय। इस पर चूहे ने कहा, "हमेशा बड़ों की ही नहीं चलती। कभी कभी ऐसा भी समय आता है, जब छोटे और दुर्बल भी शैतानी करने में सक्षम हो जाते हैं।"

अपने शारीरिक या बौद्धिक बल का अहंकार व्यर्थ है।

बुध देवता की मूर्ति और बढ़ई

एक निर्धन बढ़ई के पास लकड़ी की बनी हुई बुध देवता की एक मूर्ति थी। वह प्रतिदिन उस मूर्ति की पूजा करके देवता से अपने को धनी बना देने की प्रार्थना करता। परन्तु इसके बावजूद क्रमश: वह निर्धन से निर्धनतर ही होता गया। आखिरकार एक दिन नाराज होकर उसने मूर्ति को उसके आसन से उतारा और सामने की दीवार पर पटक दिया। मूर्ति का सिर टूट जाने पर उसमें से सोने का चूरा निकलकर जमीन पर गिरने लगा। बढ़ई ने शीघ्रतापूर्वक सोने को एकत्र करते हुए कहा, "आपका व्यवहार बड़ा विरोधाभासी और अयुक्तिसंगत है; क्योंकि जब तक मैं आपकी पूजा करता रहा, तब तो मुझे कोई लाभ नहीं हुआ और अब जब मैं आपका अपमान कर रहा हूँ, तो आपने मुझे इतना धन देकर निहाल कर दिया।"

किसान और गरुड़

एक किसान के बिछाये जाल में एक गरुड़ पक्षी फँस गया। उसने उस सुन्दर पक्षी को मुक्त कर दिया। उस गरुड़ ने भी अपने मुक्तिदाता के प्रति अपनी कृतज्ञता का फल चुका दिया।

एक बार उसने देखा कि किसान जिस दीवार के नीचे बैठा है, वह सुरक्षित नहीं है और अब गिरने ही वाली है। अत: वह किसान की ओर उड़ा और अपने पंजों से उसकी पगड़ी उठाकर भागने लगा। किसान द्वारा उसके पीछे दौड़ने पर उसने पगड़ी जमीन पर गिरा दी। किसान अपनी पगड़ी उठाकर जब अपने पुराने स्थान पर लौटा, तो उसने देखा कि वह जिस दीवार के पास बैठा हुआ था, वह गिरकर बिखर चुकी है। तब उसकी समझ में आया कि गरुड़ उसकी जान बचाने के लिए ही उसकी पगड़ी ले उड़ा था।

मनुष्य की तो बात ही क्या, पशु-पक्षी तक अपने उपकारी के उपकार का बदला चुका देते हैं।

सिंह और खरगोश

एक शेर को गहरी निद्रा में सोया हुआ एक खरगोश मिल गया। वह उसे झपटकर पकड़ने ही वाला था कि एक सुन्दर लाल हिरण उसके पास से होकर गुजरा और वह खरगोश को छोड़ उसी के पीछे दौड़ पड़ा। इस शोरगुल से घबराकर खरगोश जाग उठा और अपने सिर पर पाँव रखकर भाग निकला। काफी देर तक हिरन का पीछा करने के बावजूद हिरण को पकड़ने में असफल होने के बाद सिंह खरगोश को खाने के लिए लौटा। खरगोश को भी वहाँ से नदारद देखकर वह कहने लगा, "अपने हाथ का भोजन छोड़कर अधिक के लोभ में दौड़ने का मुझे ठीक ही फल मिला।"

आधी छोड़ सारी को धावै, न आधी मिले न सारी पावै।

साँड़ और बकरा

शेर के हाथ से भाग निकले एक साँड़ ने एक गुफा में छिपकर अपनी जान बचाई। हाल ही में कुछ चरवाहों ने भी आकर उस गुफा में डेरा लगाया था। बैल के गुफा में घुसते ही गुफा के एक बकरे ने अपने सींगों से उस पर आक्रमण कर दिया। बैल ने मृदु स्वर में उसे सम्बोधित करके कहा, "अभी तू मुझे जितना भी चाहे, मार ले; क्योंकि अभी तो मुझे तुझसे नहीं, बल्कि सिंह से भय है। इस राक्षस को चला जाने दे, उसके बाद मैं तुझे दिखाऊँगा कि बकरे और साँड़ के बलों में कितना अन्तर होता है।"

विपत्ति में पड़े हुए मित्र पर बहादुरी दिखाने में कोई बहादुरी नहीं है।

नाचनेवाले बन्दर

एक राजकुमार ने कुछ बन्दरों को नाचने का प्रशिक्षण दिलाया। स्वभाव से ही मनुष्यों के नकल करनेवाले होने के कारण वे बड़े निपुण शिक्षार्थी सिद्ध हुए और जब उन्हें अपने भड़कीले वस्त्रों तथा मुखौटों में प्रस्तुत किया गया, तो वे किसी भी दरबारी के समान नृत्य करने लगे। इस नृत्य को बारम्बार दुहराया गया और उसकी बड़ी प्रशंसा भी हुई। पर एक दिन एक दरबारी के मन में कुछ शैतानी करने की सूझी। उसने अपनी जेब से एक मुट्ठी मूंगफलियाँ निकालकर मंच पर फेंक दिया। मूंगफलियाँ देखते ही बन्दर अपना नृत्य भूलकर अभिनेताओं के स्थान पर पुन: अपने असली बन्दर रूप में आ गये। अपने मुखौटे उतारकर और कपड़े फाड़कर वे लोग मूंगफलियों के लिए आपस में लड़ने लगे। इस प्रकार दर्शकों की हँसी तथा खिल्लियों के बीच नृत्य का कार्यक्रम समाप्त हो गया।

मनुष्य चाहे जितना भी झूठा दिखावा क्यों न कर ले, सत्य एक-न-एक दिन सामने आ ही जाता है।

लोमड़ी और तेंदुआ

एक लोमड़ी और एक तेंदुए में बहस छिड़ गयी कि दोनों में कौन ज्यादा सुन्दर है। तेंदुए का चमड़ा तरह तरह के चिह्नों से सजा हुआ था। वह एक एक कर उन्हें दिखाने लगा; परन्तु लोमड़ी ने बीच में ही टोकते हुए कहा, "मैं इतनी अधिक सुन्दर हूँ कि मेरे शरीर को नहीं, बल्कि मन को सजाया गया है।"

सुन्दरता को मापने के कई मापदण्ड हो सकते हैं।

बन्दर और उनकी माँ

कहते हैं कि बँदरिया एक बार में दो बच्चे जनती है। उनमें से वह एक को तो बड़ा दुलार करती है और बड़े प्रेम के साथ उसकी देखभाल करती है, परन्तु दूसरे के प्रति घृणा तथा तिरस्कार का आचरण करती है। एक बार ऐसा हुआ कि जिस बच्चे को बड़ा स्नेह-दुलार मिला था, वह तो माँ का इतना दुलार पाने के बावजूद नहीं बचा, जबकि माँ से घृणा पानेवाला बच्चा इतने तिरस्कार के बावजूद स्वस्थ होकर जीवित रहा।

चाहे जितना भी प्रयास किया जाय, पर सफलता के बारे में निश्चिन्त नहीं हुआ जा सकता।

ओक के वृक्ष और बुध देवता

ओक के वृक्षों ने बुध देवता से यह कहते हुए शिकायत की, "हमें बेकार ही जीवन धारण करना पड़ता है, क्योंकि वन के सभी वृक्षों में हम पर ही सबसे ज्यादा कुल्हाड़ी चलायी जाती है।" बुध देवता ने उत्तर दिया, "अपने दुर्भाग्य के लिए तुम्हें अपने आप को ही दोष देना होगा, क्योंकि यदि तुम इतने सुन्दर खम्भे न बनाते और बढ़इयों तथा किसानों की दृष्टि में अपने को इतने उपयोगी न सिद्ध करते, तो तुम्हें कुल्हाड़ियों की इतनी मार नहीं सहनी पड़ती।"

यात्री और उसका भाग्य

अपनी लम्बी यात्रा से थका-माँदा एक यात्री एक गहरे कुँए के पास पहुँचा और उससे खींच कर पानी पीने के बाद उसके किनारे ही लेट गया। वह थककर इतना चूर हो चुका था कि उसमें वहाँ से हिलने की भी ताकत नहीं बची थी। नींद में मग्न हुआ वह जब कुँए में गिरने ही वाला था कि भाग्य की देवी आकर प्रगट हो गयीं और उसे जगाकर बोलीं, "महाशय, उठ जाइये; नहीं तो यदि आप कुँए में गिर पड़े, तो दुनिया भर के लोग मुझ पर ही दोष मढ़ेंगे, क्योंकि मनुष्य की दुरवस्था में उसकी अपनी खुद की चाहे जितनी भी गल्ती रही हो, पर उसके लिए वह सर्वदा मुझे ही दोष देता रहता है।"

मनुष्य स्वयं ही अपने भले-बुरे भाग्य का निर्माता है।

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (७)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(पिछले कुछ अंकों में आपने देखा कि स्वामीजी ने महाबलेश्वर से पूना आकर लगभग दो सप्ताह निवास किया और इस दौरान वे वहाँ के कई महत्त्वपूर्ण लोगों के सम्पर्क में आये। अब हम उनके मध्यभारत-भ्रमण तथा बम्बई-निवास के प्रसंग पर आते हैं।)

मध्यभारत की यात्रा

जून (१८९२ ई.) के उत्तरार्ध में किसी दिन स्वामीजी ने पूना से मध्य-भारत की ओर प्रस्थान किया। स्वामी गम्भीरानन्द जी ने अपने 'युगनायक विवेकानन्द' ग्रन्थ (१.३०५) में लिखा है, "खण्डवा में कोई परिचित न होने के कारण इधर-उधर घूमते-घूमते जब वे श्री हरिदास चट्टोपाध्याय नामक एक वकील के घर के सामने आए, ठीक उसी समय वकील साहब ने भी कचहरी से अपने घर लौटने के समय देखा कि दरवाजे पर एक साधु आए हुए हैं। प्रथम दर्शन में अन्यान्य लोगों की भाँति हरिदास बाबू ने भी सोचा कि ये घुमक्कड़ साधुओं में से ही एक हैं। किन्तु दो-चार बातें करते ही उन्हें यह समझते देर न लगी कि ये असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। अत: उन्होंने स्वामीजी को अपने घर आतिथ्य-ग्रहण करने का अनुरोध किया और स्वामीजी के सहमत होने पर उन्हें वहाँ रखकर अपने आत्मीय जनों के साथ उनकी सेवा में लग गए। खण्डवा में स्वामीजी लगभग तीन सप्ताह से एक माह तक थे और उसी दौरान वे जाकर इन्दौर आदि स्थान देख आए थे।

बँगला मासिक 'प्रवासी' के १९२३ ई. के भाद्र अंक में (पृ. ६६४) श्री हरिदास चट्टोपाध्याय के विषय में कुछ बातें मुद्रित हैं। उनका जन्म १८५२ ई. की फरवरी में हुगली जिले के गोंसाई-मालापाड़ा ग्राम के एक अति निर्धन परिवार में हुआ था। सुप्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय तथा इनके पड़दादा सहोदर भाई थे। निर्धन परिवार में जन्म लेकर भी हरिदास बाबू ने एक प्रतिभावान छात्र के रूप में हेयर स्कूल तथा प्रेसिडेंसी कॉलेज में पढ़ाई की। उन्हें एम.ए. तक छात्रवृत्ति मिली। अभाव के चलते उन्होंने पढ़ाई छोड़कर ट्यूशन तथा सरकार के आपूर्ति विभाग में एक छोटी-सी नौकरी कर ली। इसी से वे अपने घर के खर्च तथा कानून की पढ़ाई का व्यय का निर्वाह किया करते थे। १८७८ ई. में उन्होंने बी.एल. की परीक्षा पास की और अलीपुर तथा पाबना में वकालत करने लगे। इसके बाद वे नागपुर के श्री विपिनकृष्ण वसु की सलाह पर खण्डवा जाकर वकालत करने लगे। नादिया जिले के कुड़ुलगाछी के श्री प्यारीलाल गांगुली भी उनके साथ खण्डवा गये। वहाँ वकालत से उनकी आय बढ़ते हुए क्रमश: ६०० रुपये मासिक तक पहुँच गयी। १८८५ ई. में कांग्रेस की स्थापना हुई। अगले वर्ष हुए उसके अधिवेशन में वे डेलीगेट के रूप में सम्मिलित हुए और उसके बाद से वे प्रतिवर्ष कांग्रेस में भाग लेते थे। राजनीति में वे चरमपन्थी थे। खण्डवा तथा उसके बाहर विभिन्न सामाजिक तथा राजनैतिक सभाओं में उनके अनेक व्याख्यान हुए थे। वे पूरे मध्य भारत के वकीलों के एक प्रमुख नेता तथा पथप्रदर्शक थे। उन्होंने कानून तथा अन्य विषयों पर अनेक लेख तथा पुस्तकें भी लिखी हैं।

खण्डवा की उन्नति के लिए उन्होंने वहाँ चन्दा एकत्र करके एक ग्रन्थालय तथा १८९५ ई. में अपने घर में ही एक स्कूल आरम्भ किया। इन्हीं दिनों उनका ध्यान उस अंचल में बहुतायत से हो रहे खजूर के वृक्षों की ओर गया। उनके मन में आया कि यदि इसके रस से गुड़ तथा चीनी बनाया जाय, तो इस प्रकार उक्त अंचल की उन्नति के लिए एक लाभकारी व्यवसाय प्रारम्भ किया जा सकता है। इस विषय में उन्होंने तरह-तरह के प्रयोग किये और सफल होने के बाद उन्होंने अंग्रेजी तथा बँगला की पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख लिखे। १८९६ से १९१९ ई. के दौरान इस मद में वे लगभग बीस-पचीस हजार रुपये व्यय कर चुके थे। उन्होंने देवास, उज्जैन तथा नागपुर आदि स्थानों पर जाकर खजूर के रस से गुड़ तथा चीनी बनाने की तकनीक का प्रदर्शन भी किया। १९०९ ई. में उन्हें अपने इस कार्य के लिए सरकार से एक पदक तथा प्रशस्ति-पत्र भी प्राप्त हुआ था। आखिरकार उन्होंने स्वयं ही पाँच लाख रुपयों की एक लिमिटेड कम्पनी बनाकर इन्दौर राज्य में एक कृषिफार्म तथा उसी के साथ कारखाने की स्थापना की। इस फार्म में एक हजार बिघे खेती की जमीन तथा पन्द्रह हजार खजूर के पेड़ थे। उन्होंने उस कारखाने में 'हरिदास चॅटर्जी एण्ड कम्पनी' के नाम से पचास हजार रुपये निवेश किये और उसकी मैनेजिंग एजेंसी अपने परिवार के हाथ में रखी।

प्रवासी पत्रिका के उसी लेख में है, "जिस समय यह कारखाना शुरू करने की परिकल्पना चल रही थी, तभी स्वामी विवेकानन्द ने एक महीने तक हरिदास बाबू के घर निवास किया था। स्वामीजी ने उन्हें इस कार्य में काफी उत्साहित किया।" खण्डवा में स्वामीजी के सम्पर्क में आनेवाले दूसरे सज्जन के बारे में लिखा है, "उन (हरिदास बाबू) के समकालीन खण्डवावासी जिन एक अन्य बंगाली सज्जन का नाम उल्लेखनीय है, वे थे काशी-निवासी श्रीयुत माधवचन्द्र गांगुली। गंगोपाध्याय महाशय मेरठ से स्थानान्तरित होकर जिला-जज के रूप में खण्डवा आये थे। उनके आगमन से खण्डवा में काली-पूजा आरम्भ हुई। माधव बाबू ने माँ-काली की मिट्टी की मूर्ति बनवाकर प्यारी बाबू के घर पूजा की थी। स्वामी विवेकानन्द इन्हीं दिनों हरिदास बाबू के घर ठहरे हुए थे।"

खण्डवा निवासी बंगाली समाज के लोग स्वामीजी का शास्त्रज्ञान और अँग्रेजी साहित्य में पाण्डित्य देखकर सहज ही उनकी ओर आकृष्ट हुए। स्वामीजी के चरित्र की मधुरता ने भी उनको सर्वजनप्रिय बना दिया। उनके गृहस्वामी हरिदास बाबू ने इन सर्वगुण-सम्पन्न संन्यासी को नगरवासियों में परिचित करा देने के उद्देश्य से स्वामीजी को खुली सभा में व्याख्यान देने को कहा। इस प्रस्ताव से स्वामीजी पहले सहमत नहीं हुए। वे गुरु-शिष्य की भाँति आपसी निकटता के सहारे व्यक्तिगत चर्चा के ही पक्षधर थे। विशेषकर उन्होंने बताया कि वक्तासुलभ स्वरों का उत्थान-पतन करने आदि के कौशल में वे अभ्यस्त नहीं हैं। इसके बावजूद हरिदास बाबू द्वारा आग्रह किए जाने पर उन्होंने कहा कि उपयुक्त संख्या में श्रोताओं के उपस्थित होने पर वे भाषण देने का प्रयास करने को तैयार हैं। किन्तु हरिदास बाबू के लिए उस छोटे शहर में श्रोता एकत्र करना सम्भव न होने से भाषण नहीं हुआ। उसी समय दीवानी अदालत के जज श्री माधवचन्द्र वन्द्योपाध्याय ने एक दिन स्वामीजी के सम्मानार्थ स्थानीय बंगालियों को अपने घर में भोज देकर परितृप्त किया। भोजन के पहले और बाद का समय सच्चर्चा में व्यतीत करने के उद्देश्य से स्वामीजी अपने साथ उपनिषद् का एक खण्ड ले गए थे। निमंत्रित लोगों के एकत्र होने पर उन्होंने उपनिषदों के कई दुरूह स्थलों को अत्यन्त प्रांजल भाषा में सबको समझा दिया। इन श्रोताओं में बाबू प्यारीलाल गांगुली नामक एक वकील संस्कृतज्ञ के रूप में ज्ञात थे। इसलिए वे प्रश्नकर्ता की भूमिका अदा करने प्रस्तुत हुए। स्वामीजी ने उनके प्रत्येक प्रश्न का ऐसा सरल और सुस्पष्ट उत्तर दिया कि वकील साहब ने सन्तुष्ट होकर और प्रश्न नही किया तथा पाठ समाप्त हो जाने पर हरिदास बाबू के कानों से लगकर कहा, "स्वामीजी को देखकर लगता है कि समय आने पर ये एक विश्वविख्यात व्यक्ति होंगे।" यह बात जब स्वामीजी को बतायी गयी, तो उनके मुखमण्डल पर एक दिव्य ज्योति फैल गयी और उन्होंने कहा, "मैं स्वयं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता, तथापि मेरे गुरुदेव और भी जोर देकर ठीक यही बात कहा करते थे।"

शिकागो धर्मसभा में योगदान करने की जो कामना स्वामीजी के चित्त में जूनागढ़ और पोरबन्दर में अंकुर के रूप में प्रकट हुई थी, वह यहाँ और भी बड़े आकार में अभिव्यक्त हुई। उन्होंने सुन रखा था कि अगले वर्ष (१८९३ ई. में) इसका अधिवेशन होगा और विश्व के विविध धर्मों के प्रतिनिधि उसमें भाग लेंगे। इसीलिए एक दिन इसी विषय पर चर्चा के दौरान उन्होंने हरिदास बाबू से कहा, "कोई यदि मेरे आने-जाने का खर्च दे, तो ऐसा हो सकता है; मैं जाने को तैयार हूँ।"

खण्डवा के वकील तथा समाजसेवी श्री हरिदास चटर्जी उन दिनों उस अंचल में काफी सुविख्यात थे। स्वामीजी ने उनके यहाँ काफी काल तक आतिथ्य ग्रहण किया था। सम्भव है स्वामीजी ने उनका नाम तथा उनके राष्ट्रीय कार्यों के विषय में सुन रखा हो और इसीलिए खण्डवा आये हों। खण्डवा में श्री हरिदास चॅटर्जी के साथ कुछ काल बिताने के बाद स्वामीजी ने मध्यभारत के इन्दौर आदि स्थानों का दौरा किया। उनके इन्दौर प्रवास के बारे में तो हमें निश्चित सूचना मिलती है, परन्तु उन्होंने आसपास स्थित उज्जैन, ओंकारेश्वर, महेश्वर, मण्डलेश्वर, ग्वालियर आदि महत्वपूर्ण स्थानों में से भी कुछ स्थान अवश्य देखे होंगे। जूनागढ़ राज्य के दीवान श्री हरिदास बिहारीदास देसाई द्वारा प्रदत्त एक परिचय-पत्र के साथ वे इन्दौर आये थे, परन्तु जैसा कि स्वामीजी ने अपने एक पत्र[१] में बताया है कि वहाँ दीवान जी के महाराष्ट्रीय मित्र श्री बेदरकर ने उनके प्रति समुचित सहृदयता तथा सौजन्यता नहीं दिखाई। मराठी मासिक 'मनोरंजन' के १९१० ई. के दीपावली विशेषांक (पृ. १८) में श्री खण्डेराव चिमणराव बेदरकर (१८४१-१९०५ ई.) का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित हुआ है। वे १८९० से १८९२ तक इन्दौर के दीवान थे और हमें लगता है कि स्वामीजी अपने इन्दौर-प्रवास के समय इन्हीं का आतिथ्य ग्रहण करने गये थे। स्वामीजी की जीवनी में लिखा है कि वहाँ पर वे अहल्याबाई होल्कर की छतरी भी देखने गये थे। पुरानी बँगला जीवनी के अनुसार वे एक बार एलोरा देखने भी गए थे। स्वामी गम्भीरानन्द जी लिखते हैं, "किसी जीवनी में उल्लेख नहीं रहने पर भी हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि केवल खण्डवा और इन्दौर देखने के लिए ही स्वामीजी इस क्षेत्र में नहीं आए थे। सम्भवत: क्षिप्रा-तटवर्ती उज्जयिनी एवं नर्मदा-तटवर्ती तीर्थस्थानों के आकर्षण से ही वे वहाँ आए थे और उन सबका दर्शन किया था।"

सम्भवत: इन्हीं दिनों उनकी ग्वालियर घराने के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री एकनाथ पण्डित से भेंट हुई। श्री निखिल घोष ने स्वामीजी की जन्म-शताब्दी के समय प्रकाशित अपने 'नायक विवेकानन्द' शीर्षक लेख में इस घटना का वर्णन किया है। वैसे उन्होंने इस घटना के स्रोत का कोई उल्लेख नहीं किया है, अत: इसका सत्यापन करना कठिन है, तथापि यह विवरण अत्यन्त रोचक है और स्वामीजी की सांगीतिक प्रतिभा की एक सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करता है। निखिल घोष लिखते हैं –

"परिव्राजक के रूप में अपने भारत-भ्रमण के दौरान स्वामीजी की एकनाथ पण्डित नामक एक वरिष्ठ संगीतज्ञ के साथ मुलाकात हुई थी, जो एक ध्रुपद गायक थे। स्वामीजी ने उनसे संगीत सुनने की इच्छा व्यक्त की। एकनाथ पण्डित के गाने के साथ स्वामीजी मृदंग पर संगत करने लगे। स्वामीजी के इस मृदंगवादन से गायक और श्रोता पूर्णत: सन्तुष्ट हुए। इस कार्यक्रम के पश्चात् होनेवाले वार्तालाप से पता चला कि

१. Complete Works of Swami Vivekananda, Ed. 1989, Vol. 8, p. 288

स्वामीजी एक अच्छे गायक भी हैं, अत: लोगों ने स्वामीजी से गाने का भी अनुरोध किया। स्वामीजी तानपूरा उठाकर ध्रुपद का आलाप लेने लगे। फिर जब वे गीत के लय पर आये तो कोई भी मृदंग पर उनकी संगत नहीं कर सका। तभी सहसा उन्होंने तानपूरा एकनाथ पण्डित के हाथ में सौंपते हुए मृदंग उठा लिया और स्वयं ही अपनी संगत करने लगे। इस प्रकार सबको विस्मय के सागर में डुबाते हुए स्वामीजी ने स्वयं दोनों भूमिकाएँ सम्पन्न कीं। इस अद्भुत घटना पर आश्चर्यचकित होकर पण्डित जी कह उठे, स्वामीजी आप केवल गायक नहीं, बल्कि नायक हैं।

"नायक की उपाधि एक ऐसे संगीतज्ञ को दी जाती है जिसमें सफल प्रदर्शन, संगीत-रचना की क्षमता, संगीतशास्त्र का ज्ञान और श्रोताओं को अभिभूत करने की प्रतिभा हो। जिन लोगों को संगीत का थोड़ा ज्ञान है, वे इस बात को ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि ध्रुपद-गायन, जिसमें षट्-प्राण तथा षट्-संगत लगते है, का मृदंग पर स्वयं ही संगत कर पाना प्राय: असम्भव-सा है। इन दोनों को एक साथ अकेले ही सफलतापूर्वक कर दिखाना एक अतिमानवीय कार्य है।"[२]

उपरोक्त घटना का विवरण हमें अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। रामकृष्ण आश्रम, ग्वालियर द्वारा प्रकाशित १९९८-९९ में प्रकाशित स्मारिका 'दिव्या' (पृ. १७) के अनुसार "जनश्रुति है कि ... संगीत की यह जुगलबन्दी रामकुई, शेख की बगिया में स्थित मोटे महादेव जी के मन्दिर में हुई थी।" तथापि नि:सन्देह स्वामीजी की सांगीतिक प्रतिभा असाधारण थी और उनके अज्ञात परिव्राजक जीवन के दौरान सम्भव है इस तरह की और भी कई घटनाएँ हुई हों।

स्वामीजी की पुरानी बँगला जीवनी में उनके तत्कालीन जीवन के प्रसंग में बताया गया है – "मध्य भारत में सम्भवत: खण्डवा छोड़कर कुछ उत्तर की ओर जाने के समय उन्हें कई कठिन परीक्षाओं से उत्तीर्ण होना पड़ा – वे विचित्र स्वभाव के लोगों के बीच जा पहुँचे, जो बड़े असभ्य तथा अतिथि-सत्कार-विमुख थे, माँगने पर एक मुट्ठी भिक्षा तक नहीं देते, ठहरने की जगह माँगने पर डाँट-फटकार कर भगा देते। कभी कभी ऐसा भी हुआ कि कई दिनों तक निर्जल निराहार रहने के बाद किसी प्रकार जीवन धारणोपयोगी थोड़ा-सा कुछ खाकर शरीर-रक्षा करनी पड़ी। इन्हीं दिनों उन्होंने कई दिनों तक एक मेहतर-परिवार के साथ निवास किया था और इस उपेक्षित नीच जाति के लोगों के हृदय की श्रेष्ठता देखकर वे विस्मित रह गए थे। शायद इसी तथा ऐसी ही कुछ अन्य घटनाओं से उपेक्षित जातियों में उच्च भावों के अंकुर देखकर वे उन लोगों की उन्नति के लिए इतनी तीव्रता से पिल पड़े थे।"

इन्हीं दिनों एक बार स्वामीजी के मन में विचार जगा कि सिद्धि-लाभ के लिए उन्होंने संसार का त्याग किया है। घर-घर भिक्षा माँगने और जगह-जगह घूमने मात्र से वह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। अपने एक गुरुभ्राता को एक पत्र में लिखा, "मैं निर्लज्ज भाव से घूम-घूमकर दूसरों के घर में भोजन करता हूँ, और इससे विवेक को कष्ट भी नहीं होता – बिल्कुल एक कौए की तरह। अब और भिक्षाटन नहीं करूँगा। मुझे खिलाने से गरीबों को क्या लाभ? बल्कि एक मुट्ठी चावल मिलने पर वे अपने बाल-बच्चों को खिला सकते हैं। फिर यदि भगवत्प्राप्ति ही नहीं हुई, तो इस देह को रखने से क्या लाभ?" एक गहन आध्यात्मिक असन्तोष तथा आत्मविसर्जन के भाव ने उन्हें आच्छन्न कर लिया।

एक दिन एक सुदूर व्यापी घने जंगल से होकर चलते समय स्वामीजी ने सोचा कि अनाहार रहकर तपस्या के द्वारा देहत्याग कर देने में क्या हानि है? ऐसा विचार करते हुए वे सारे दिन पैदल चलते रहे, रास्ते में एक भी मुट्ठी अन्न नहीं मिला। सन्ध्या होने पर वे थके-शरीर के साथ एक पेड़ के नीचे सो गए। उनका मन भगवत्-चिन्तन में निमग्न था और युगल नेत्र लक्ष्यहीन रूप से सुदूर की ओर फैले थे। थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा कि एक बाघ उन्हीं की ओर चला आ रहा है। धीरे-धीरे आगे आकर वह उनके पास ही बैठ गया, मानो छलाँग लगाने की तैयारी कर रहा हो। स्वामीजी के मन में आया, "वाह, बड़ा अच्छा हुआ! हम दोनों जन ही तो भूखे हैं। इधर मुझे इस देह में तो ज्ञानलाभ हुआ नहीं और इसके द्वारा संसार के किसी का कल्याण होने की भी तो सम्भावना नहीं दिखती; अत: इससे यदि इस भूखे पशु की भूख मिट जाय तो क्या बुरा?" रंचमात्र भी चंचलता व्यक्त किए बिना वे उसी प्रकार लेटे हुए प्रतीक्षा करते रहे कि कब वह हिंस्र बाघ छलाँग मारकर उन पर टूट पड़े। किन्तु थोड़ी देर बाद किसी अज्ञात कारण से वह बाघ दूसरी ओर घूमकर तेजी से चला गया। स्वामीजी तब भी सोचते रहे कि शायद वह फिर लौटे। वे प्रतीक्षा करते रहे, पर वह नहीं लौटा। वह रात उन्होंने भगवत्-चिन्तन में उस पेड़ के नीचे ही काटी। सुबह ईश्वर के विधान से एक दूसरी ओर उनका मन आकृष्ट हुआ। वे ईश्वर की असीम करुणा की बात सोचते हुए कृतज्ञतापूर्ण हृदय से गन्तव्य स्थान की ओर अग्रसर हुए। परवर्ती काल में वे इस घटना का उल्लेख तो किया करते थे, पर उस समय की अनुभूति का पूरा रहस्य उन्होंने कभी व्यक्त नहीं किया।

एक अन्य समय शरीर के क्लान्त तथा अवसन्न होने पर भी वे खाली पेट लम्बी राह पर चले जा रहे थे। ग्रीष्मकाल का सूर्य आग बरसा रहा था और राह चलना क्रमश: असम्भव हो गया था। तथापि आखिरी प्रयास कर वे दूरस्थ एक पेड़ के

२. विवेक-ज्योति (त्रैमासिक) अक्तूबर-दिसम्बर १९८८, पृ. २०६

तले उपस्थित हुए और वहीं लेट गए – शरीर उस समय चेतनारहित हो गया था, आगे चल ही नहीं पा रहा था। तभी अन्धकार में अचानक प्रकाश छिटक जाने की भाँति उनके मन में यह विचार उदित हुआ, "यह तो परम सत्य है कि आत्मा में अनन्त शक्ति निहित है! शरीर और इन्द्रियाँ उस आत्मा पर अधिकार जमा लेंगी, यह कैसी बात है? मैं निर्बल कैसे हो सकता हूँ?" यह सोचते ही उनकी देह में नयी शक्ति का संचार हो गया, उनके मन की अचेतनता दूर हो गयी, इन्द्रियों ने भी प्रतिक्रिया दिखायी और वे पुन: इस संकल्प के साथ राह चलने लगे कि इस तरह दुर्बलता के हाथों आत्मसमर्पण करना ठीक नहीं है। उनके परिव्राजक जीवन में ऐसी घटनाएँ और भी घटी थीं और इनका उल्लेख करते हुए उन्होंने कैलिफोर्निया में एक भाषण देने के क्रम में कहा था, "कितनी ही बार मैं निराहार रहकर, क्षत-विक्षत पाँवों से, क्लान्त देह लेकर मृत्यु के समक्ष उपस्थित हुआ हूँ! कितनी ही बार दिन पर दिन मुट्ठी भर अन्न नहीं पाने से राह चलना असम्भव हो जाता था। तब श्रान्त शरीर से किसी वृक्ष की छाँह में लेट जाता और प्रतीत होता कि प्राण-वायु निकलती जा रही है। बातें नहीं कर पाता था, विचार करना भी असम्भव हो जाता और ऐसे मन में यह भाव उठता, 'मुझे कोई भय नहीं है, मेरी मृत्यु नहीं है; मेरा जन्म कभी हुआ नहीं, मृत्यु भी नहीं होगी; मुझे कोई क्षुधा नहीं, तृष्णा नहीं। **सोऽहम् सोऽहम्**। सारी प्रकृति में क्षमता नहीं कि मुझे मसल डाले। प्रकृति तो मेरी दासी है! हे देवदेव, हे परमेश्वर, अपनी महिमा प्रकट करो, स्वराज्य में प्रतिष्ठित होओ! विरत मत होओ।' तभी मैं पुन: शक्ति पाकर उठ खड़ा होता; इसी से मैं आज भी जीवित और यहाँ उपस्थित हूँ।"

इन्दौर आदि मध्य भारत के विविध स्थानों का भ्रमण के पश्चात् स्वामीजी पुन: खण्डवा लौट आये। एक दिन हरिदास बाबू के घर शिकागो में आयोजित होनेवाले धर्म-महासभा पर चर्चा छिड़ने पर स्वामीजी ने कहा, "यदि कोई मेरी यात्रा का खर्च दे, तो मैं महासभा में जाऊँगा।" खण्डवा में कुछ दिन निवास के पश्चात् जब वे वहाँ से प्रस्थान करने को प्रस्तुत हुए तो हरिदास बाबू ने स्वामीजी से और भी कुछ दिनों तक रह जाने के लिए विशेष अनुरोध किया था। परन्तु स्वामीजी ने कहा, "आप लोग मेरी इतनी सेवा-शुश्रूषा करते हैं कि आप लोगों को छोड़कर जाने की इच्छा नहीं होती; किन्तु मेरा रुकना नहीं हो सकता। मैं तीर्थ-भ्रमण को निकला हूँ – रामेश्वर तक जाना ही होगा। यदि मैं इस प्रकार हर जगह दीर्घ समय बिताऊँ, तो फिर मेरा संकल्प पूरा नहीं होगा।" स्वामीजी की रामेश्वरम् की ओर जाने की तीव्र आकांक्षा देखकर हरिदास बाबू ने मुम्बई निवासी अपने एक भाई के नाम पत्र देते हुए उनसे कहा, "वे आपको मुम्बई के प्रसिद्ध बैरिस्टर रामदास छबीलदास से मिला देंगे। कदाचित् वे आपकी सहायता कर सकें। लगता है आपके द्वारा कोई महत्वपूर्ण कार्य होनेवाला है।" इस पर स्वामीजी बोले, "खैर, मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता, परन्तु मेरे गुरुदेव मेरे भविष्य के विषय में बहुत-कुछ कहा करते थे।" हरिदास बाबू ने स्वामीजी के लिए मुम्बई का एक टिकट खरीदकर उन्हें रेलगाड़ी में बैठा दिया। स्वामीजी खण्डवा-वासियों को आशीर्वाद देकर अपने गुरुदेव के पाद-पद्मों का स्मरण करते हुए अपने गन्तव्य स्थल की ओर चल पड़े।

(मुम्बई पहुँचकर स्वामीजी कहाँ ठहरे और वहाँ अपने सुदीर्घ प्रवास के दौरान क्या किया – इसकी खोज करेंगे आगामी अंक में)

श्रीरामकृष्ण की बोधकथा

बादशाह और फकीर

अकबर शाह जिस समय दिल्ली का बादशाह था, उस समय दिल्ली से कुछ दूरी पर एक वन में एक फकीर रहा करता था। उस फकीर की कुटिया में काफी लोग आया-जाया करते, पर फकीर के पास उनका आदर-सत्कार करने के लिए कुछ नहीं था। एक बार फकीर को अतिथि-अभ्यागतों का सत्कार करने की बड़ी इच्छा हुई और उसने सोचा, "यह काम रुपए-पैसे के बिना नहीं हो सकता, इसके लिए एक बार अकबर शाह के पास जाया जाए।" अकबर शाह का दरबार साधु-सन्त और फकीर-दरवेशों के लिए हर समय खुला रहता था। फकीर जिस समय गया उस समय अकबर शाह नमाज पढ़ रहा था। फकीर पास ही जाकर बैठ गया। उसने सुना कि अकबर खुदा से कह रहा है, "अल्लाह, मुझे धन दे, दौलत दे, ताकत दे।" सुनते ही फकीर उठकर चलने लगा। अकबर ने इशारे से उसे बैठने को कहा, फिर नमाज पूरा करने के बाद उसने उससे पूछा, "आप आकर बैठे, फिर उठकर जाने क्यों लगे?" फकीर बोला, "बादशाह को वह बात सुनने की कोई जरूरत नहीं; मैं चलता हूँ।" बादशाह के बहुत जबरदस्ती करने पर अन्त में फकीर ने कहा, "मेरे यहाँ कई लोग आया करते हैं। उनकी सुख-सुविधा के लिए तुम्हारे पास कुछ माँगने आया था।" अकबर बोला, "तो फिर चले क्यों जा रहे हैं?" फकीर बोला, "जब देखा, तुम भी धन-दौलत के भिखारी हो, तो सोचा, 'भिखारी के पास भीख माँगने से क्या फायदा! माँगना ही है तो अल्लाह से ही क्यों न माँगू!"

भुज का भयावह भूकम्प

एक शल्य-चिकित्सक की आपबीती

मैं १९८७ ई. से भुज में निवास कर रहा हूँ। यह एक अल्प महत्त्वाकांक्षियों का नगर है। यह इतना छोटा शहर है कि इसका प्राय: हर व्यक्ति एक-दूसरे को पहचानता है। २६ जनवरी, २००१ को जब अनपेक्षित भूकम्प ने सहसा हम सबको हिला दिया, उस समय मैं बैडमिन्टन खेल रहा था।

अनपेक्षित इसलिए कि मैंने भुज में एक बँगला तथा एक चिकित्सालय बनवाया है, पर किसी भी अधिकारी ने मुझे इस विषय में सचेत नहीं किया था। मेरे मित्र तथा स्थपति कुम्टेकर जी ने बताया कि भुज भूकम्प प्रभावित क्षेत्र है और उन्होंने जोर डालकर मुझे तलघर बनवाने से रोका। भुज की बीस संस्थाओं से मैं जुड़ा रहा हूँ, पर किसी ने भी, यहाँ तक कि वहाँ पदस्थ किसी जिलाधिकारी ने भी इस बात का उल्लेख नहीं किया। उस शुक्रवार को प्रात:काल हमने जो कुछ अनुभव किया, कोई भी उसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकता। यह भयावह तथा बीभत्स था। कम्पन काफी देर तक चला। मैं बारम्बार चिल्लाता रहा – हे भगवान, तुम रुकते क्यों नहीं? भवन धड़ाम धड़ाम ... करके ध्वस्त हो रहे थे। क्षण भर में ही धूल के भयंकर बादलों ने सारे नगर को ढँक लिया। मेरे पिताजी ने इसका सही वर्णन करते हुए कहा – मानो एक विशाल जहाज तुम्हारे सिर पर से उतर रहा हो। जब मैं बाहर आया, तब तक भुज उजड़ चुका था। वे मेरे जीवन के सबसे बुरे १५ मिनट थे। गाड़ी चलाकर मैं घर गया और अपने परिवार से मिला। मेरी पत्नी अलका तथा पुत्री मुझे खोज रहे थे। वे रो रहे थे। हम पाँचों एक-दूसरे से लिपट कर रोने लगे।

मुझे अपने रोगियों का खयाल आया और मैं उन्हें देखने अस्पताल की ओर दौड़ा। मार्ग में भी मैंने किसी-किसी को गाड़ी में ले लिया। विश्वास कीजिए, मुझे यह भी नहीं पता था कि मेरी बगल में कौन बैठा है। मेरी इन्द्रियाँ जड़ीभूत हो गयी थीं। मेरे कर्मचारी व्यावहारिक थे; वे सभी रोगियों को बाहर सड़क पर ले गये थे। इस प्रकार उनकी जान बच गयी थी। मेरे पहुँचते ही मेरा एक कर्मचारी बोला, "सर, अपने अस्पताल की बात भूल जाइये। वह तो ध्वस्त हो चुका है।" मैं डॉ. महादेव पटेल से मिला। हम एक-दूसरे से लिपट कर रो उठे। किसी ने मुझे झकझोरते हुए कहा – "डॉक्टर, आप ही यदि ढीले पड़ गये, तो काम कैसे चलेगा?" भुज के उस नागरिक ने मुझे सक्रिय होने को कहा। मैं तैयार नहीं था, बोला, "मैं भला क्या कर सकता हूँ? ठीक है, चलो सार्वजनिक अस्पताल चलें।" उन्होने कहा, "आपको नहीं मालूम? वह भी ढहकर नष्ट हो चुका है।" मेरी तो बोलती ही बन्द हो गयी। मैंने अपना आला ढूँढा। थोड़ी देर पहले जहाँ मेरा अस्पताल खड़ा था, उसी के बाहर लोग एकत्र होने लगे। १० मिनटों में ही वहाँ १०० रोगी आ पहुँचे। उस समय लगभग साढ़े नौ बज रहे थे। सभी लोगों को कई-कई चोटें आयी थीं। किसी की अतड़ियाँ फट गयी थी, तो किसी के हाथ टूट गये थे और कोई टूटे हुए पैरों के साथ लाये गये थे। सबको शीघ्रातिशीघ्र आपरेशन की जरूरत थी। न जाने कैसे, मैंने तत्काल एक सही निर्णय ले लिया। मैंने घायलों से कहा – आप लोग मेरे साथ जुबली मैदान चलें। भीड़ में खलबली मच गयी। यह देखकर मैं विस्मित रह गया कि कैसे १० मिनट के भीतर ही इतने लोगों तक यह सूचना पहुँच गयी कि जुबली मैदान में चिकित्सकीय सहायता उपलब्ध है। उस उन्मादी भगदड़ के समय भुज के अनेक सुयोग्य चिकित्सक भी मेरे आसपास ही थे, परन्तु पहले कुछ घण्टों के दौरान मैं ही एकमात्र सर्जन था। लोग मेरा ध्यान आकृष्ट करने के लिये धक्कामुक्की करने लगे। अपनी सुरक्षा के लिये मैंने रोगियों के दो परिजनों को अपने दोनों ओर खड़ा किया। मेरे पास इंजेक्शन नहीं थे। मैं मजबूर था। मेरे पास सूई-धागे भी न थे। तब, जानते हैं, मैंने क्या किया? मैंने रोगियों को हिलाया। मैंने सहानुभूतिपूर्वक उन लोगों को मानसिक तनाव से मुक्त होने के लिये कहा। मैं चिल्लाकर कहता रहा, "लम्बी साँसें लो, लम्बी साँसें लो।"

उनमें अनेक रोगियों की हालत गम्भीर थी। बहुत-से लोग मर चुके थे। ९०% लोगों के सिरों में चोटें आयी थीं। मैंने लोगों से सहायता माँगी। मैंने एक युवक से कहा कि वह एक दवा की दुकान तोड़कर सीरिन्ज, ग्लूकोज की बोतलें, सूइयाँ तथा धागे ले आये। मैंने सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हुए उससे निश्चिन्त भाव से यह कार्य करने को कहा। वह ये सारी चीजें ले आया, पर उनका परिमाण कम था। मैं चीखा, "दवाएँ लाओ।" मेरे पुन: चिल्लाने पर लोगों में हिम्मत आयी और मुझे जो कुछ चाहिए था, वह सब मिल गया। उस समय लगभग ९ बजकर ४० मिनट हुए थे। तब तक मुझे समस्या की विकरालता का अनुभव हो चुका था और मैं समझ गया था कि मेरा कार्य यथेष्ट नहीं है। एक घण्टे के भीतर अंजार से भी रोगी आ पहुँचे, जिनमें से कुछ तो बुरी तरह घायल थे। तब तक डॉ. पटेल, डॉ. पी. एन. आचार्य, डॉ. पजारा और डॉ. भरत जोशी भी मेरे साथ काम में जुट गये थे। मैं आपरेशन करना चाहता था, इसके लिए उद्विग्न था। पूरा

नगर ध्वस्त हो चुका था और एक भी आपरेशन थियेटर सलामत नहीं था। मैंने अपने सहयोगी भरत चोथानी से कहा कि वे दौड़कर मेरे अस्पताल से ऑपरेशन-किट ले आयें। मैंने मरीजों के अंगों पर प्लास्टर लगाने हेतु उनके सम्बन्धियों से खपड़ैल, काठ के पटरे तथा कार्डबोर्ड लाने को कहा। किसी अन्य से मैंने मेनानिटॉल लाने को कहा। मैं चद्दर, कुर्ते तथा साड़ियों के टुकड़ों से पट्टियाँ बाँध रहा था। जब एक मरीज ने खून बहने की शिकायत की, तो मैंने उसी की पगड़ी फाड़ी और उसके जाँघ के चारों ओर कसकर बाँध दिया।

एक व्यक्ति एक बालिका को अपनी बाँहों में लिए दौड़ते हुए मेरे पास आया। उसने कहा – डॉक्टर साहब, पहले इसे देखिए। मुझे लगा कि बच्ची मर चुकी है। उसका पिता इस विषय में मुझसे सत्यापन कराना चाहता था। उसने कहा, "डॉक्टर साहब, थोड़ा जल्दी कीजिए। यदि यह मर चुकी है, तो मैं दौड़कर अपने घर के मलवे में अपनी पत्नी को ढूँढ़ने जाता हूँ।" उसे गहरा आघात लगा था और वह संवेदनहीन था। मैंने कहा, "इसे हमारी निगरानी में छोड़कर आप अपनी पत्नी को ढूँढ़िये।" अपनी मृत बच्ची के शव को हमारी देख-रेख में छोड़कर वह चला गया। उस दिन मुझे सर्वाधिक मानसिक पीड़ा इस बात से हो रही थी कि मुझे मरीजों के परिजनों से उनके किसी क्षत-विक्षत अंग को काटकर उनके जीवन को बचाने के लिये शीघ्र निर्णय लेने को कहना पड़ता था। मैं रूक्ष हो गया था। साधारणत: मैं ऐसा व्यवहार नहीं करता और इसके लिये मैं दुखी भी हूँ। मैं उनमें से बहुत-से रोगियों को व्यक्तिगत रूप से जानता था। वे लोग मेरी ओर देखकर चिल्लाते, "डॉक्टर साहब! आप मेरा पैर क्यों नहीं देखते? क्या आप मुझे नहीं पहचानते? प्रारम्भिक कुछ घण्टों के दौरान मेरे पास केवल एक ही सूई थी। मैंने डॉ. भरत जोशी से उस सूई को पकड़े रहने को कहा, क्योंकि वह मेरी सर्वाधिक मूल्यवान चीज थी। मेरे साथियों ने रोगियों को इस क्रम में सजाया था कि मैं एक बार में तीन रोगियों की सिलाई कर सकूँ। सैकड़ों रोगी खुले मैदान में पड़े हुए थे। एक सूई-धागे तथा कैंची की सहायता से मैंने टाँके लगाना शुरू किया। मैं रोगियों को डाँटता था – "रोओ मत। शान्त रहो।" हम लोगों के आसपास काफी शोरगुल हो रहा था। लोग पीड़ा से कराह रहे थे और उनके सम्बन्धी दुख से रो रहे थे। मैंने उस दिन लगभग १५० रोगियों को टाँका लगाया होगा। ११ बजे तक होमगार्ड के लोग आ पहुँचे। उसके बाद सांसद पुष्पदान गाधवी आये। अन्तत: मुझे एक मेज मिल गयी। मैंने एक तम्बू माँगी। एक बार उनके आ जाने पर मैंने आपरेशन करना शुरू किया। मेरे लिए फिर से कठिनाई खड़ी हो गयी, क्योंकि एक ही कैंची से मुझे अनेकों मरीजों के हाथ-पैर काटने पड़ते थे। मैंने उनके जीवन बचाने के लिये ही ऐसा किया। अन्य चिकित्सकों ने पट्टियाँ बाँधीं। ३ बजे तक हमारे पास ५ मेजें तथा काफी चिकित्सकीय सहायता उपलब्ध थी। बस-अड्डे के सामने की ओर के फूटपाथ पर फलों की दुकान चलानेवाले हरीश ठक्कर ने भी मेरी कुछ सहायता करने की इच्छा जतायी। मैंने उनसे एक गैस स्टोव और पानी गरम करने को एक बड़ा पात्र लाने को कहा। वे थोड़ी ही देर में हम सब और रोगियों तथा उनके सम्बन्धियों के लिये सैकड़ों की संख्या में डबेलियाँ (एक स्थानीय लोकप्रिय व्यंजन) ले आये; कल्पना कीजिए कि कुछ ही घण्टों में! यह एक चमत्कार ही था। रोगियों की चिकित्सा के दौरान ही खबरें भी आ रही थीं। सूचना मिली कि रमेश चल बसा! कुछ अन्य मित्र भी मर चुके थे। मेरे अनेक परिचितों का देहान्त हो चुका था। मैं जब घावों में टाँके लगा रहा था, तभी एक भलेमानुष ने मेरे मुख में बिस्कुट डाल दिये। वह इतना संवेदनशील था।

धीरे-धीरे सारी चीजें व्यवस्थित होती गयीं। हमें नहीं पता कि हम लोगों के लिये ये चीजें कौन लाया। चीजें पर्याप्त मात्रा में आने लगीं। डिक्लोरन और टीटेनस टॉक्साइड के इंजेक्शन उपलब्ध थे। शाम ७ बजे तक मैं थक चुका था। इसके बाद कुछ कर पाना मेरे लिए असम्भव था। मैं जिला स्वास्थ्य अधिकारी के दफ्तर में गया। यह एक प्रशासनिक पद है। वह व्यक्ति दवा के विषय में कुछ भी नहीं जानता था। मैंने एक सचल ऑपरेशन थियेटर और १०० आपरेशन किटों की माँग की। सोमवार की रात तक भी वह मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने उनसे और नेताओं से अनुरोध किया – "डॉक्टरों को नहीं, पहले आपरेशन की सामग्री मँगवाइए।"

कच्छ में २०० डॉक्टर आ पहुँचे, पर हमें मालूम न था कि उनका सदुपयोग कैसे हो। दिल्ली के ए.आइ.एम.एस. से बिना किसी उपकरण के ३० कुशल चिकित्सक आये। जब तक हमें एक आपरेशन थियेटर तथा उपकरण प्राप्त नहीं होते, तब तक ८०% चिकित्सकीय सुविधा बेकार थी। किसी ने एक हेलिकाप्टर क्लोरोमाइसिन भेज दिया था, पर वह किसी काम का न था। मुझे १००० जोड़ी दस्तानों की जरूरत थी। मैं जानता हूँ कि भेजनेवाले जमीनी सच्चाई से अनभिज्ञ हैं। २९ जनवरी की देर रात तक हमारे पास कोई क्रियाशील आर्थोपेडिक विभाग और आपरेशन थियेटर नहीं था।

सैन्य अस्पताल कर्नल लाहिड़ी के नेतृत्व में प्रशंसनीय कार्य कर रहा है, लेकिन उनके भी संसाधन सीमित हैं। सभी प्राइवेट चिकित्सालय बन्द हैं। सरकारी अस्पताल ध्वस्त हो चुका है। बच्चे और मातायें कहाँ जायेगीं? हम एक ऐसा अस्थायी अस्पताल चाहते हैं, जो ६ महीने चल सके।

('वेदान्त-केसरी' के अप्रैल - २००१ अंक से अनूदित)

आचार्य रामानुज (१९)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेनै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से इन्होंने बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

१५. गोष्ठिपूर्ण

श्रीरंग क्षेत्र में आकर तथा महापूर्ण को अपने गुरुरूप में पाकर रामानुज को श्री यामुनाचार्य के तिरोभाव का शोक विस्मृत हो गया। उन्होंने स्वयं ही आदर्श शिष्य का आचरण करके शिष्यों के कर्तव्य की शिक्षा दी थी।

शरीरं वसु विज्ञानं वासः कर्मगुणानसून्।
गुर्वर्थं धारयेत् यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृतः।।

– जो देह, धन, ज्ञान, वस्त्र, कर्म, गुण तथा प्राण अपने गुरु के लिए ही धारण करते हैं, वे ही सच्चे शिष्य हैं, दूसरे नहीं।

रामानुज ऐसे ही शिष्य थे। उन्होंने महापूर्ण से न्यासतत्त्व, गीतार्थ-संग्रह, सिद्धित्रय, व्याससूत्र, पंचरात्रागम आदि का अध्ययन किया। महापूर्ण ने उनकी अतुल्य प्रतिभा पर मुग्ध होकर अपने पुत्र पुण्डरीक को उनका शिष्य बना दिया और वे रामानुज से बोले, "वत्स, यहाँ से थोड़ी दूर त्रिरुकोट्टियुर या गोष्ठिपुर नामक एक सम्पन्न नगर है। वहाँ पर गोष्ठिपूर्ण नाम के एक परम धार्मिक विद्वान् निवास करते हैं। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उनके समान परम वैष्णव इस अंचल में कोई दूसरा नहीं है। यदि तुम अर्थसहित वैष्णव-मंत्र जानना चाहो, तो उनके अतिरिक्त अन्य कोई भी तुम्हें इसकी शिक्षा नहीं दे सकेगा। अत: अविलम्ब मंत्र को प्राप्त करने का प्रयास करो।"

यह सुनकर रामानुज तत्काल गोष्ठिपुर गये और गोष्ठिपूर्ण की चरण-वन्दना कर उनके सम्मुख अपना अभिप्राय व्यक्त किया। इस पर उन्होंने कहा, "किसी अन्य दिन आओ तो देखा जायगा।" इस पर खिन्न होकर रामानुज अपने स्थान को लौट आये। इस घटना के दो-एक बाद ही श्रीरंगम में महान् उत्सव के उपलक्ष्य में भगवान का दर्शन करने गोष्ठिपूर्ण वहाँ आये। सुनने में आया है कि रंगनाथ जी के किसी सेवक ने भगवदाविष्ट होकर उनसे कहा, "तुम रामानुज को मर्मार्थ सहित मंत्र का उपदेश करो, क्योंकि उसके समान श्रेष्ठ आधार तुम्हें अन्यत्र नहीं मिलेगा।" इस पर गोष्ठिपूर्ण बोले, "हे प्रभो, आपने ही तो नियम किया है –

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।

गीता १८/६७

"पहले कुछ काल तपस्या आदि किये बिना चित्तशुद्धि नहीं होती। और अशुद्ध चित्त में मंत्र-धारण की क्षमता भला कैसे सम्भव है?" इसका उत्तर मिला, "पूर्ण, तुम इनकी पवित्रता के विषय में नहीं जानते, इसीलिए ऐसा कह रहे हो। ये सर्वजन-पावन हैं, बाद में तुम्हें पता चलेगा।"

श्री रामानुज इसके बाद फिर गोष्ठिपूर्ण के चरणों में उपस्थित हुए, परन्तु उनका उद्देश्य सफल नहीं हुआ। इस प्रकार अट्ठारह बार लौटाये जाने के बाद वे अत्यन्त उद्विग्न होकर सोचने लगे, "अवश्य ही मेरे भीतर कोई मालिन्य है, इसी कारण गुरुदेव मेरे ऊपर कृपा नहीं कर रहे हैं।" ऐसा सोचते-सोचते वे विकल होकर रुदन करने लगे। कुछ लोगों ने जब जाकर यह समाचार गोष्ठिपूर्ण को बताया, तो उनके हृदय में करुणा का संचार हुआ। उन्होंने किसी को भेजकर रामानुज को बुलवाया और मर्मसहित महामंत्र प्रदान किया। तदुपरान्त वे बोले, "एकमात्र श्रीविष्णु को छोड़कर इसका माहात्म्य और किसी को विदित नहीं है। मैंने महान् आधार समझकर ही तुम्हें यह दिया है। वर्तमान कलिकाल में इसका कोई अन्य अधिकारी मेरे देखने में नहीं आता। जो कोई भी इसे सुनेगा, वह देहान्त के बाद निश्चय ही मुक्ति पाकर वैकुण्ठलोक जायेगा। अत: इसे और किसी को मत देना।" श्री रामानुज गुरु का उपदेश सुनकर परम आनन्दित हुए। उनके हृदय की एकमात्र कामना पूर्ण हो गयी थी। मंत्रशक्ति से उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। उनके मुखमण्डल पर एक अलौकिक कान्ति प्रकट हुई। परम शक्ति पाकर उन्होंने स्वयं को कृतार्थ माना और अपने गुरुदेव के चरणों में बारम्बार प्रणाम करते हुए स्वयं को अतीव भाग्यशाली माना। उनके आनन्द की सीमा न थी।

श्री गुरु से विदा लेकर वे श्रीरंगम की ओर चले। सहसा उनके मन में एक विचित्र भाव का उदय हुआ। वे गोष्ठिपुर में स्थित विष्णु-मन्दिर के महाद्वार की ओर चले और मार्ग मे जो भी दिखा उसे यह कहकर आमंत्रित करने लगे, "मन्दिर के पास आओ, मैं तुम्हें एक अमूल्य रत्न प्रदान करूँगा।" उनकी प्रफुल्ल मुखश्री, अलौकिक भाव, सरल वाणी, ब्रह्म-तेजमय दिव्य कान्ति देखकर आबाल-वृद्ध-वनिता सभी मंत्रमुग्ध के समान उनके पीछे चल पड़े। क्रमश: सम्पूर्ण नगर में यह बात फैल गयी कि 'एक महापुरुष स्वर्ग से अवतीर्ण हुए हैं और मन्दिर के पास ठहरे हैं। उनसे जो कोई, जो कुछ भी माँगता है, वे उसे वही प्रदान करते हैं।' इस अफवाह से आकृष्ट

होकर जो जिस दशा मे था, उसी दशा में मन्दिर की ओर दौड़ पड़ा। थोड़ी देर मे नगर तथा आसपास के सभी नर-नारी वहाँ एकत्र हो गये। इस विशाल जनसमुदाय को देखकर रामानुज के हृदय का असीम प्रेमसिन्धु आनन्दवायु के झकोरो से तरंगायित होने लगा। उन्होने संग आये दाशरथि तथा कुरेश नामक दो शिष्यो का आलिगन कर उन्हें भी अपने आनन्द का सहभागी बनाया। इसके बाद वे गोपुरम् अथवा मन्दिर के मुख्य द्वार पर चढ़कर उच्च स्वर मे बोले, "प्राण से भी प्रिय भाइयो व बहनो, यदि तुम लोग तत्काल संसार के सारे दु:ख-कष्टो से चिरकाल के लिए मुक्ति पाना चाहते हो, तो फिर मैं तुम्हारे लिए यह मंत्ररत्न संग्रह करके लाया हूँ। तुम लोग मेरे साथ तीन बार इसका उच्चारण करके धन्य हो जाओ।"

इस पर सभी एक स्वर में कह उठे, "बोलिए, कृतार्थ कीजिए, हम तैयार हैं।" तब यामुनमुनि के हृदयगत भाव के एकमात्र मर्मज्ञ, उभय-विभूतिपति, सर्व-सन्तापहारी, सर्व-जनप्रिय, वात्सल्य-पयोनिधि, जीवदुखासहिष्णु, हताशान्धकार के दिनकर-स्वरूप लक्ष्मणावतार श्री रामानुज ने अपने आनन्दमय हृदय के गहनतम प्रदेश से '**ॐ नमो नारायणाय**' – इस महामंत्र का उच्चारण किया। भूख से अत्यन्त आतुर व्यक्ति जिस प्रकार भोजन-पान ग्रहण करता है, उस विशाल जनसमुदाय ने भी उसी प्रकार के आग्रह सहित उस सर्वसुखनिधान महामंत्र को ग्रहण किया और कोटि वज्रध्वनि में उसका एक साथ उच्चारण किया। श्री रामानुज के साथ इसी प्रकार दो बार और उच्चारण करके सभी शान्त हो गये। अहो! मंत्र का क्या ही अद्भुत प्रभाव हुआ! तत्काल ही धरती मानो वैकुण्ठ के समान प्रतीयमान होने लगी।

आबाल-वृद्ध-वनिता के आनन्दोद्भासित मुखमण्डल को देखकर ऐसा लग रहा था मानो दुख-दारिद्र्य सदा-सर्वदा के लिये पृथ्वी से विदा ले चुके हों। जो लोग धनप्राप्ति या किसी अन्य सांसारिक कामना की परिपूर्ति की आशा में आये थे, वे भी काँच-खण्डों के इच्छुक द्वारा सहसा हीरक-खण्ड की प्राप्ति के महानन्द में डूबकर धन या संसार की बातें बिल्कुल ही भूल गये। दिव्यानन्द में निमग्न होकर सभी देवतुल्य हो गये थे और इसी कारण पृथ्वी भी उस समय स्वर्गसदृश हो गयी थी। रामानुज के श्रीचरणों में साष्टांग प्रणाम निवेदित कर, उन्हें भूरि भूरि धन्यवाद देकर, स्वयं को कृतार्थ मानते हुए, लोग क्रमश: वापस लौटने लगे। इसके बाद श्री रामानुज अपने शिष्यों के साथ गोपुरम् से उतरे और गोष्ठिपूर्ण के श्री पादपद्मों में पूजा देने की इच्छा से उनके घर की ओर चल पड़े।

इस बीच गोष्ठिपूर्ण अपने अन्य शिष्यों के मुख से यह सारी घटना सुनकर अत्यन्त रुष्ट हुए थे। अत: जब यतिराज अपने दोनों शिष्यो के साथ उनके सम्मुख उपस्थित हुए, तो वे अपने क्रोध का आवेग संवरण करने में असमर्थ होकर उच्च स्वर में बोल उठे, "दूर हो नराधम, तेरे समान नराधम को महारत्न देकर मैंने महापाप किया। अब फिर क्यों अपने मुखदर्शन जनित महापाप् में मुझे लिप्त करने आया है? तेरे समान पिशाच को नरक में भी स्थान मिलना कठिन है।"

रामानुज इस पर जरा भी भयभीत हुए बिना ही विनयपूर्वक बोले, "महात्मन्, नरकवास के लिए तैयार होकर ही मैंने आपके आदेश का उल्लंघन किया है। आपके कथनानुसार जो कोई भी इस मंत्र का श्रवण करेगा, उसे परम गति मिलेगी। इसी पर निर्भर होकर ही मैंने नगर के समस्त नर-नारियों को मोक्षपथ का पथिक बना दिया है। देहावसान के बाद वे सभी परमपद पाकर कृतकृत्य होंगे। यदि मेरे समान एक तुच्छ व्यक्ति नरक मे भी जाय और उसके बदले हजारों नर-नारी वैकुण्ठ जाने का अधिकार पाकर कृतकृत्य हो जायँ, तो ऐसा नरक मेरे लिए प्रार्थनीय है। आपके आदेश का उल्लंघन हुआ है, अत: मुझे नरक मिले; और आपके ही वचन के अनुसार हजारों पापी-तापी परमगति प्राप्त करें – इससे बढ़कर कल्याणकर एवं लाभजनक भला और क्या हो सकता है?"

जब आकाश में काले मेघ एकत्र होकर अपना तड़ितरूपी मुख खोलकर कर्णभेदी गर्जन करते हैं, तब आबाल-वृद्ध-वनिता जैसे त्रस्त हो उठते हैं और दूसरे ही क्षण वायु का प्रबल वेग उन्हें छिन्न-भिन्न कर देने पर प्रकृति का कोमल रूप प्रकट हो जाने पर सबके हृदय में हर्ष का संचार होता है; उसी प्रकार गोष्ठिपूर्ण का क्रोधाविष्ट वक्र-भृकुटियुक्त कटुवाक्य-विकिरणकारी मुख देखकर सभी त्रस्त हो उठे थे, परन्तु श्री रामानुज के तीक्ष्ण-युक्तिपूर्ण विनययुक्त प्रेममय मधुर वाणी ने उनके गुरुदेव के मुखमण्डल को क्रोधलेशरहित एवं निर्मल कर दिया और सबके हृदय का भय दूर हुआ। अपनी संकीर्णता एवं रामानुज की परम उदारता का बोध हो जाने पर जब गोष्ठिपूर्ण ने प्रगाढ़ भक्तिसह उनका आलिंगन किया, तब इस अकस्मात् परिवर्तन को देखकर सभी चित्रलिखे-से स्तम्भित रह गये और आन्दातिरेक से किसी के मुख से कोई वाणी नहीं निकली। भुजबन्धन को हटाने के बाद गोष्ठिपुरपति ने हाथ जोड़कर रामानुज से कहा, "हे महानुभाव, आज से आप मेरे गुरु और मैं आपका शिष्य हुआ। जिनका हृदय इतना विशाल है, वे लोकपिता विष्णु के ही अंश से सम्भूत हैं, इसमें तिलमात्र भी सन्देह नहीं। मैं एक सामान्य जीव हूँ। आपकी महिमा भला कैसे समझ सकूँगा? मेरे अपराध क्षमा कीजिए।"

लज्जा से अवनत हो रामानुज ने गुरुदेव के चरण पकड़कर कहा, "हे महात्मन्, आप मेरे नित्यगुरु हैं। आपके श्रीमुख से नि:सृत होने के कारण ही मंत्र का ऐसा माहात्म्य है। आपके असीम प्रभाव का एक लघु अंशमात्र उस मंत्र में संक्रमित हुआ है, इसीलिए उसमें सर्वलोक-पावनकारी शक्ति का उदय हुआ

(शेष अगले पृष्ठ पर)

धर्मक्षेत्र में भगवान श्रीकृष्ण और गीता

भैरव दत्त उपाध्याय

गीता का उपदेश भगवान श्री कृष्ण ने धर्मक्षेत्र में दिया था और कुरुक्षेत्र में महाभारत का युद्ध अर्जुन के द्वारा लड़ा गया। कुरुक्षेत्र का युद्ध कौरवों के विरुद्ध था और धर्मक्षेत्र का युद्ध श्रीकृष्ण ने विपरीत विचारधारा वाले लोगों के विरुद्ध लड़ा था। शास्त्रार्थ किया था जो पूर्णत: अहिंसक था। श्रीकृष्ण ने जो पांचजन्य नामक शंख फूँका था; वह दुर्मति, वेद विरोधी और भौतिकवादी लोगों के विरुद्ध था। श्रीकृष्ण धर्मगोप्ता, धर्मपालक और धर्मरक्षक थे। उनका घोष अहिंसामय था। महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सेना हताहत हुई थी। यह धर्मयुद्ध न अठारह दिन और न ही अठारह अक्षौहिणी सेना के समाप्त होने पर बन्द हुआ, अपितु आज तक निरन्तर चल रहा है और आगे भी चलेगा। श्रीकृष्ण ने जीवन की समस्याएँ रखी। उनके समाधान के लिये आज तक का मनुष्य संघर्ष कर रहा है; क्योंकि उसका मन संशयरहित नहीं हुआ है। श्रीकृष्ण द्वारा घोषित आदेशों, उपदेशों को ध्यान से सुनना और शिरोधार्य करना ही धार्मिक आस्था का प्रतीक है, जो संशयरहित, मोक्षप्रद और शान्तिप्रद है।

जिस प्रकार व्यक्ति के मन में अन्तर्द्वन्द्व होता है। एक समय जो विचार आता है, तत्काल दूसरा विरोधी विचार भी उठ खड़ा होता है; उसी प्रकार समाज के सामूहिक मन में भी विरोधी-प्रतिविरोधी विचारधाराएँ उठती हैं। जिन विचारों का प्रभाव स्थायी हो जाता है, उन्हें व्यापक पुष्टि मिल जाती है। जिसका आधार शाश्वत सत्य-शिव और सुन्दर होता है। मानवीय संवेदनाएँ उत्कृष्ट चिन्तन और उदात्त जीवनदृष्टि होती है। काल के हृदय पर उसी की विजयिनी पताका फहरती है। अनेक संस्कृतियाँ इतिहास के गर्त में समाविष्ट हो गई। जिनमें जीवनशक्ति होती है, वही संस्कृति दीर्घजीवी रहती है। संस्कृति का इतिहास सुदीर्घ होता है। युगों का अन्तराल इसमें समाहित होता है। संस्कृतियों का द्वन्द जितना अहिंसक होगा – **निर्वैर: सर्वभुतेषु**[१] – उतनी ही उसमें प्राणवत्ता होती है। यह मानव जाति का इतिहास है। द्वन्दों का लेखा जोखा है। थपेड़ों को झेलने का जितना साहस जिसने किया, उतना ही उसका इतिहास गहरा लिखा गया। यही उसकी धरोहर है। मिथको में उसी की स्मृतियाँ सुरक्षित होती है। गीता इन्हीं अन्तर्द्वन्द की कथा है। गीता पूर्वजों के जीवन का छन्द है, शाश्वत गाथा है।

गीता पंचम वेद है। यह महाभारत का छोटा-सा अंश है। जिसमें श्रीकृष्ण के कथनों का व्यास की वाणी में पुनर्कथन है। श्रीकृष्ण के वाक्यो का भाषान्तर है। तत्कालीन समाज में जो प्रतिगामी विचारधाराएँ थी। लक्षणा और व्यंजन से परे जिनके अर्थ थे, परन्तु वे भौतिकवादी अभिधा तक सीमित थे। श्रीकृष्ण ने अपने और पराये लोगों के विरुद्ध कुरुक्षेत्र (युद्ध) रचा था। जिसमें अर्जुन एक माध्यम था। एक प्रतीक था। वस्तुत: वह मानव जाति का प्रतिनिधि था। कुरुक्षेत्र में धर्मयुद्ध था। संस्कृतियों और विरोधी विचारों का अन्त:संघर्ष। वैदिक मत का समर्थक अर्जुन घबरा गया था। उसके हाथों से गांडीव गिर गया। हाथ-पैर काँपने लगे। श्रीकृष्ण से निवेदन किया – "हे कृष्ण, मैं यह युद्ध नहीं करूँगा। एक ही परिवार के प्रतिपक्षी विचारधारा के लोगों से कैसे लड़ूँ?" अर्जुन रथ पर जाकर बैठ गया। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा – अर्जुन, तू क्षत्रिय है, तेरा कार्य युद्ध करना है। यह अकीर्तिकर, अस्वर्ग्य और अनार्यों का पथ है। इस पर चलना तुझे शोभा नहीं देता। श्रीकृष्ण ने जिन तथ्यों को उद्घाटित किया। जिनके द्वारा धर्मयुद्ध कुरुक्षेत्र में विजय प्राप्त हुई। वे प्रतिगामी विचार थे – अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, अवतारवाद में अविश्वास, वेदों में अनास्था, वर्णाश्रम व्यवस्था न मानना, यज्ञ-कर्म में अनास्था, पुनर्जन्म तथा मोक्ष में विश्वास का अभाव।

१. आत्मवाद

आचार्य बृहस्पति तथा अन्य वाममार्गी एवं भौतिकवादी लोगों का खेमा था। जिन्हें चुनौती देकर धर्मयुद्ध में पराजित करना था। अर्जुन को मोह हुआ। वह सगे-सम्बन्धियों के व्यामोह में आसक्त था। उसके मन में अहंकार था। पहले से ही उसने अपनी विजय मान ली थी, इसीलिये वह युद्ध छोड़कर पण्डितों की भाषा बोल रहा था। श्रीकृष्ण ने कहा – अर्जुन, यदि आत्मा के विषय में तू शोक कर रहा है, तो वह व्यर्थ है; क्योंकि आत्मा अभौतिक है । अविनाशी अव्यय, नित्य, अप्रमेय, अचल, परम स्थाणु, सनातन और अविकारी

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

है, जिसके बल से आज सैकड़ों नर-नारियों का दु:ख-ताप भस्म हो गया, जिसके बल से मै गुरु के आदेश के उल्लंघन का महापाप करने के बावजूद, आपका देवदुर्लभ आलिंगन पाकर चिरकाल के लिए कृतार्थ हो गया। मेरी एकमात्र प्रार्थना यही है कि आप मुझे सन्तान, दास समझकर सदा अपने श्री चरणो में स्थान दें।"

श्री रामानुज के माधुर्य तथा विनयभाव पर परम सन्तुष्ट होकर गोष्ठिपूर्ण ने अपने पुत्र सौम्यनारायण को उन्हें शिष्य-रूप में अर्पित किया। शिष्यों के साथ श्री रामानुज ने गुरुदेव की अनुमति लेकर श्रीरंगम के लिए प्रस्थान किया। इस घटना के बाद से सभी लोग उन्हें साक्षात् श्री लक्ष्मण का अवतार मानने लगे। ❖ **(क्रमश:)** ❖

है। वह अव्यक्त, ध्रुव, अमर्त्य, कूटस्थ तथा अचिन्त्य है। इसको न कोई मारनेवाला है और न यह मरनेवाला है। यह न उत्पन्न हुआ है, न नष्ट होगा। इसे न अग्नि जलाती है, न शस्त्र काटता है, न जल भिगोता है और न वायु सुखाती है। यह सर्वव्यापी, पुरातन, शाश्वत, निर्लेप और निःछन्द है। यह संसारिकता से परे, सुख-दुःखात्मक भावों से अलिप्त तथा कर्तव्य-अकर्तव्य एवं भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व से अस्पृष्ट है। यह मात्र द्रष्टा है। अतः तू शोक छोड़कर युद्ध कर। यदि युद्ध नहीं करेगा, धर्म-संग्राम से मुँह मोड़ लेगा, तो तू अपने धर्म – वैदिक धर्म से पलायन के कारण अपकीर्ति एवं अपयश का भागी होगा।[२]

२. ईश्वर में आस्था – हिन्दू धर्म की महान् विशेषता

जो लोग कहते हैं कि संसार का कोई आधार नहीं है, उसका कोई स्वामी नहीं है, वे असुर हैं।[३] उनका कथन है कि ईश्वर को मर जाना चाहिए। ईश्वर मनुष्य का उत्पाद है। मनुष्य ईश्वर का पिता है। वह जब चाहे तब ईश्वर बन सकता है। हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण और कंस – इन्होंने स्वयं को ईश्वर बताने के प्रयास किया था। परिणाम क्या हुआ? सभी जानते हैं। अवैदिक मतों के अचार्यों ने भी स्वयं को भगवान बताने का प्रयास किया था। पश्चिम का दर्शन और धर्म प्रकृतिवादी है। इन देशों में प्रकृतिवादी मत का आतंक रहा है। धर्मक्षेत्र के चक्रव्यूह का द्वार सदैव अनावृत है। अनवरत वैचारिक संघर्ष के कपाट उद्घाटित रहे हैं। श्रीकृष्ण की घोषणा है कि उनका कोई शत्रु नहीं है, किसी प्राणी से कोई द्वेष नहीं है। जो उनकी शरण में आयेगा, वे सहज भाव से उसे प्राप्त हो जाएँगे।[४]

घट-पट की रचना हमारी सीमा में है, किन्तु ब्रह्माण्ड की रचना में हम असमर्थ हैं। उसकी रचना करना ईश्वर का कार्य है। सृष्टि की रचना में ईश्वर निमित्त कारण है। ईश्वर कुम्भकार या तन्तुवाय की स्थिति में है। या फिर अपने ही धागों से जाल बनाकर उदर में समेटनेवाली मकड़ी के समान वह प्रभु हैं। अर्थात् समवायी तथा असमवायी तथा निमित्त कारण – सभी परमात्मा है। वेद ने इसे प्रमाणित किया है।

गीता में कहा गया है कि सृष्टि-रचना में परमात्मा का कोई स्वार्थ नहीं है। कर्म करने या न करने से उसे कोई हानि लाभ नहीं है। किसी प्राणी से कोई स्वार्थ नहीं है। वह आत्मतृप्त और पूर्णकाम है। वह निरासक्त और निराकांक्ष भाव से कार्य करता है। इस जगत् की रचना में अव्यक्त ईश्वर ने अपने आपको व्यक्त किया। परा और अपरा रूपों की रचना की। भौतिक अर्थात् स्थूल सृष्टि एवं अभौतिक सृष्टि – जीव सृष्टि संरचित है। इसी को गीता में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तथा क्षर-अक्षर भावों के रूप में व्यक्त किया है। क्षर विनाशी और अक्षर अविनाशी भाव है। इन दोनों से परे श्रेष्ठ पुरुषोत्तम – ईश्वर है जो तीनों लोकों का भरण-पोषण करता है।[५] प्रभु समस्त प्राणियों का मित्र है और उनके हृदय में विराजमान है।[६] उनकी कृपा से परम शान्ति का परम पद मिलता है।[७]

३. प्रभु अवतार लेता है

अखिल ब्रह्माण्ड का जनक सर्वशक्तिमान परमात्मा स्वेच्छा से अवतार लेता है। अव्यक्त प्रकृति जब व्यक्त होती है, तब उसका रूप सगुण साकार और स्थूल होता है। वह दृश्यात्मक होता है। परमात्मा अजन्मा, अव्यक्त, निर्विकार, निर्गुण, गुणातीत और अव्यय है। फिर भी लीला करने की दृष्टि से वह सगुण और साकार रूप धारण करता है। अपनी प्रकृति योगमाया से प्रकट होता है। जब धर्म की हानि होती है, अभिमानी असुरों की वृद्धि होती है और साधुओं को पीड़ा मिलती है, तब सन्तों की रक्षा, दुष्टों का विनाश और धर्म की पुनःस्थापना के लिये प्रत्येक युग में भगवान प्रकट होते हैं। अवतार की भावना मनोवैज्ञानिक और तार्किक है।

सनातन धर्म का यह बहुत विश्वास है। इसी आधार पर आर्य जाति विपदाओं को झेलती हुई अक्षुण्ण तथा अमर रही है और रहेगी।

४. सनातन धर्म का आधार वेद

मानव जीवन के धार्मिक और दैनिक अथवा नैमित्तिक कार्य क्या और कैसे होने चाहिए? जब तक श्रुति इसका निर्देश और पुष्टि नहीं करती, तब तक वे क्रियाएँ मान्य नहीं होतीं। वेद आप्त वाक्य है। स्वतः प्रमाण हैं। उन्हें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। जबकि अन्य प्रमाण जब तक वेद से प्रमाणित नहीं होते, उनकी मान्यता नहीं होती। वेद अपौरुषेय हैं। उनका रचनाकार कोई नहीं है। ईश्वर की रचना भी नहीं है, क्योंकि वेद अनादि और अनन्त है। उनमें ईश्वर की स्तुति है। आत्मस्तुति करना उचित नहीं है। वेदों में विश्वास होने के फलस्वरूप व्यक्ति आस्तिक कहलाता है, अन्यथा नास्तिक – **अस्ति वेदुषु विश्वासः आस्तिकः** तथा **नास्ति वेदुषु विश्वासः नास्तिकः**। हमारा धर्म आस्तिक है। बिना वेद की अनुज्ञा, पुष्टि, अनुस्मृति व पाठावृत्ति के धार्मिक कृत्य पूर्ण नहीं होते।

श्रीकृष्ण ने यज्ञ, दान, तप आदि करने का निर्देश दिया है। वे किसी भी स्थिति में त्याज्य नहीं है – **यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यम् इति चापरे**[८] वेदों में संशोधन अथवा परिवर्तन की सम्भावना नहीं है; क्योंकि इनका पाठ इतना जटिल बना दिया गया है, जिससे एक मात्रा अधिक की भी सम्भावना नहीं

१. गीता, ११/५५; २. वही, २/११-३३
३. वही, १६/८ ४. वही, ११/५५
५. गीता, अध्याय ७, १३, १५ ६. वही, १८/६१
७. वही, १८/६३ ८. वही, १८/३

है। इनके पाठ आठ प्रकार के हैं, जिससे एक मात्रा का अन्तर भी पकड़ में आ जाता है। इनकी व्याख्या, पुनर्व्याख्या आदि हो सकती है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था – व्यक्ति का लक्ष्य त्रिगुणातीत होता है जबकि वेद त्रिगुणमय है – **त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन**[९] । **वेदवादरता: – स्वर्गपरा विपश्चिता:**[१०] आदि से उन लोगों की आलोचना की है जो कर्मकाण्ड की सीमा फल तक मानते हैं। वास्तव में वे वेदों का अर्थ भूल गये हैं। त्रिगुण से ऊपर त्रिगुणातीत की स्थिति है अर्थात् जहाँ व्यक्ति की चेतना का रूपान्तर विश्वचेतना तथा विश्वातीत चेतना तक हो सकता है, तब केवल प्रथम धरातल तक की कल्पना आवश्यक नहीं है। इसलिए कर्म त्रिगुणमय है और उनसे ऊपर उठकर अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना है।

५. वर्णाश्रम व्यवस्था

गीता में वर्णाश्रम-धर्म का प्रबल समर्थन है, जबकि अनार्य मतावलम्बियों द्वारा इसका विरोध हुआ। गीता में इस व्यवस्था की वैज्ञानिकता, तर्कसंगतता और युक्तियुक्तता निरूपित हुई है। गीता ने सत्त्व, रजस् तथा तमस् – इन त्रिगुणों की मूल प्रकृति को मानव स्वभाव का आधार देकर वर्ण-व्यवस्था को सम्बल दिया है। श्रीकृष्ण ने कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र – मैंने इन चार वर्णों को गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार रचना रचा है।[११] परन्तु ये चारों वर्ण कर्म एवं स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। गुण और स्वभाव के द्वारा अलग-अलग किये जाते हैं।[१२] वेद और गीता ने उनका अनुमोदन किया है। प्रत्येक वर्ण अपने स्वभाविक गुण के अनुरूप कर्म करते हुए सिद्धि प्राप्त करते हैं।[१३] चूंकि अर्जुन क्षत्रिय हैं, उन्हें युद्ध करने का आदेश दिया है – **अन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते**। चार वर्णों के अलावा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास – इन चार आश्रमों की भी व्यवस्था है। प्रत्येक का कार्य निर्धारित है, जिनका निर्वाह व्यक्ति को करना है। संन्यास रूप अन्तिम आश्रम के बारे में श्रीकृष्ण कहते है कि निर्धारित कर्म छोड़कर कपड़े रँगना संन्यास नहीं, अपितु काम्य कर्मो अथवा समस्त कर्मो की फलाकांक्षा का त्याग संन्यास है।[१४] संन्यासी किसी से द्वेष नहीं रखता। उसके मन में किसी के प्रति विशेष अनुराग नहीं होता, कोई आकांक्षा भी नहीं होती।[१५] वह योगी होता है। निरासक्त और मनोनिग्रही होता है। उसी को ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। निरग्नि और अक्रिय अर्थात् यज्ञ न करना तथा कर्मकाण्ड त्याग देना संन्यास नहीं होता। सभी स्थितियों में कर्म आवश्यक है। केवल फल का त्याग श्रेयस्कर है।[१६]

यज्ञोवैष्णुः

यज्ञ ही भगवान् विष्णु का रूप है। कल्प के प्रारम्भ में प्रजापति ब्रह्मा ने यज्ञ किया और कहा कि तुम भी यज्ञ करो। यह तुम्हारी कामनाओं को पूरा करेगा। तब से आज तक देव और मनुष्य एक दूसरे को तृप्त करते हैं।[१७] यज्ञ कृष्णमय है। देवमय है। इसलिए देव, पुरोहित, यजमान, साधन, हवि स्रुवा तथा स्थान आदि सब कुछ यज्ञमय तथा देवमय है।[१८] यज्ञ ही भावों के आधार पर सात्त्विक, राजस और तामस – तीन प्रकार का है।[१९] यज्ञ का उद्देश्य सम्पूर्ण लोकों की सुख-समृद्धि है। यज्ञ यज्ञार्पित अर्थात् लोकार्पित करने से व्यक्ति में न कर्तापन एवं निजी कामनाएँ तिरोहित हो जाती हैं, वरन् समाज में निजी स्वार्थ का भाव न होने से समरसता व सौमनस्य का आगमन होता है। जो यज्ञ नहीं करते, उनकी गति न लोक में होती है, न परलोक में।[२०] यज्ञ कर्म आसक्ति एवं अहंकार रहित होना चाहिए।[२१] आर्यों का समस्त जीवन यज्ञमय होता है। उनका प्रत्येक कर्म यज्ञ के द्वारा और यज्ञ के लिये किया जाता है। उनके जन्म और मृत्यु तक के समस्त कर्म यज्ञ द्वारा होते हैं। अन्तिम संस्कार मृत्यु भी एक यज्ञ है। चिता यज्ञ-वेदी है। अग्नि प्रज्वलित की जाती है और उसे शरीर की समिधा समर्पित की जाती है।

७. पुनर्जन्म

सनातन धर्म की विशेषता पुनर्जन्म में विश्वास है। श्रीमद्-भगवद्-गीता का कथन है कि जिस प्रकार शरीर में बचपन, यौवन तथा बुढ़ापा आता है, उसी प्रकार आत्मा पुरातन शरीर बदलकर नवीन शरीर में प्रवेश लेती है। दूसरा शरीर धारण करती है। पुराने शरीर का वस्त्र बदलकर नवीन धारण कर लेती है।[२२] श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि मैंने पूर्वजन्म में सूर्य, पश्चात् मनु तथा उसके बाद उनके पुत्र इक्ष्वाकु को यह विद्या सिखाई थी। चूंकि तू मेरा प्रिय शिष्य है, अत: तुझे उसी विद्या को दे रहा हूँ।[२३] इस पर अर्जुन ने कहा – हे प्रभो, आपका जन्म तो अभी का है। वे लोग जो पहले हो चुके हैं, तब मैं कैसे जानूँ कि आपने ही उन्हें यह ज्ञान दिया था। तब श्रीकृष्ण ने कहा – हे अर्जुन, तेरे और मेरे न जाने कितने बार जन्म हो चुके हैं, पर तू उन्हें नहीं जानता, मैं जानता हूँ। यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, पर अपनी माया को अपने अधीन कर अवतार लेता हूँ। इसलिए मैं यह सब जानता हूँ।[२४]

८. जीवन का परम लक्ष्य – मोक्ष

जिस प्रकार आर्यों ने समाज में चार वर्ण, चार आश्रमों की व्यवस्था की, उसी प्रकार जीवन के चार लक्ष्य भी निर्धारित

९. वही, २/४५
१०. गीता, २/४२, ४३ आदि
११. वही, ४/१३
१२. वही, १८/४१
१३. वही, १८/४५
१४. वही, १८/२
१५. वही, ४/२१
१६. वही, ६/२-३
१७. वही, ३/१०-५
१८. वही, ४/२४
१९. वही, ७/११
२०. वही, ४/२१
२१. वही, ३/९, २०
२२. वही, २/२२, १३
२३. वही, ५/१-३
२४. वही, ५/४-६

किये – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। उसका आशय है आत्मा का परमात्मा में अन्तिम विलय। इस प्रकार घटाकाश या मठाकाश का विलय महाकाश मे होता है, उसी प्रकार जीवन को शान्ति तभी मिलती है, जब उसका महाशान्ति मे तदाकार होता है। कबीर ने कहा था – **जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी; फूटा घट जल जलहिं समाना** – अर्थात् घड़े मे जल है, उसके बाहर भी जल है। घट जब फूट जाता है, तब उसके भीतर का जल और कुएँ का जल मिलकर एक हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव जब आनन्द के महासागर मे मिलता है, परमात्मा से एकरूपता जब स्थापित हो जाती है, तब जीवात्मा को महाशान्ति की प्राप्ति होती है। फिर उसे न शोक है, न मोह। वह जन्म-मरण के भवचक्र से मुक्त हो जाता है। गीता में इसी को ब्राह्मी स्थिति[२५], निर्वाण परमशान्ति[२६], परमं पदम्[२७], अव्यय पदम्[२८], परम धाम[२९], ब्राह्मी स्थिति:[३०], ब्रह्मभूत:[३१], परमा गति[३२], परम स्थानम्[३३] आदि शब्दो से अभिहित किया गया है।

परमात्मा जो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में समाविष्ट है। सभी के प्रति परम कृपालु[३४] है। उस परमात्मा का न तो कोई निजी कार्य है और न वह किसी स्वार्थ में बँधा है।[३५] प्रभु का भक्त प्रभु की शरण में जाने से विनाश को प्राप्त नहीं होता।[३६] वह परमात्मा ही संसार में जानने योग्य है। वही संसार का आश्रय-स्थान है। वह अव्यय धर्म का रक्षक तथा सनातन सत्य है।[३७] जो कर्म परमात्मा को समर्पित होता है, वह श्रेष्ठ हो जाता है।[३८] संसार के जो भी धर्म हैं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो कर्म है, उन सबको छोड़ कर भगवान की शरण में जाने से ही जीव का कल्याण होगा।[३९]

यह धर्मयुद्ध है। इसमें किसी प्रकार की हिंसा-प्रतिहिंसा का भाव नहीं है। मन में भी किसी प्रकार का द्वेष नहीं है।[४०] धर्म थोड़ा होने पर भी भयानक भय का नाश करता है और जीव की रक्षा करता है।[४१] मनुष्य को अपने सत्य सनातन धर्म को छोड़ दूसरे के धर्म की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए।[४२] अपने धर्म अथवा कर्तव्य में ही अपने प्राणों का त्याग कर देना उत्तम है। दूसरे का धर्म स्वीकार नहीं करना चाहिए।[४३]

धर्म का सरल अर्थ कर्तव्य है। यह कुल-धर्म, जाति-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि विशेषणों से सम्बोधित होता है। यह मानव को जन्मजात उत्तराधिकार में मिलता है। धर्म सनातन है, इसीलिये आर्य-धर्म सत्य-सनातन-धर्म कहलता है। इसका आधार वेद है। वेद सनातन है। सनातन धर्म में 'क्रूसेड' और 'जिहाद' जैसे शब्द नहीं हैं। धर्मान्तरण की कल्पना भी नहीं है। जिसका जो धर्म है, उसी के अनुवर्तन से आत्मचेतना का विकास करने पर होता है। शान्तिपद की प्राप्ति होती है। मानवता के उच्च, उच्चतर तथा उच्चतम धरातलों पर जिस क्रम से व्यक्ति पहुँचता है, उसी क्रम से दैवी गुणों का प्रकाश उसके अन्तस् में फैल जाता है। हिन्दू धर्म में व्यक्ति की निजी साधना पर बल दिया जाता है। समूह-साधना से धर्म-परिवर्तन, क्रूसेड या जिहाद जैसी भावनाएँ विकसित होती हैं। सनातन धर्म व्यक्ति का स्वाभाविक धर्म है। वह सहज धर्म है। ओढ़ा गया धर्म नहीं है। उसका आचरण प्रकृति के अनुकूल है। मानव चेतना के उच्चतम बिन्दु तक विकास की अनन्त संभावना है। व्यक्ति और समाज के दुराग्रह, मताग्रह, असत्य तथा हिंसा के सिद्धान्तों के लिये आर्यों के धर्म में स्थान नहीं है। गीता ने **धर्मसंमूढचेता:** कहकर उनकी आलोचना की है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है – "सारे भारत में हिन्दू जाति पर श्री कृष्ण के इस आदेश ने छाप छोड़ी है। यह उनकी नस-नस में प्रवाहित हो रहा है। जब कोई कार्य हिन्दू करता है, यहाँ तक कि वह पानी भी पीता है, तो कहता है कि इस कार्य के सभी शुभ फल ईश्वरार्पित हैं। इस प्रकार हिन्दुओं का समस्त जीवन ईश्वरार्पित और यज्ञार्पित है। श्रीकृष्ण इस धर्म के रक्षक हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहीं अर्जुन है, जहाँ ये दोनों हैं वहीं सम्पूर्ण विभूतियाँ तथा विजय है।[४४] जहाँ विजय है, वहीं सनातन धर्म है। वहीं विश्व का कल्याण है।

---

२५. वही, २/७२   २६. वही, ३/१५
२७. वही, ८,२८   २८. वही, १५,५
२९. वही, १५,६   ३०. वही, ५,२०
३१. वही, ५,२४   ३२. वही, ८,२१
३३. वही, ८,२८   ३४. वही, १२,१२
३५. वही, ३,१८   ३६. वही, ९,२१
३७. वही, ११, १८   ३८. वही, १७/२६
३९. वही, १८/६६   ४०. वही, १८/७०
४१. वही, २/४   ४२. वही, १८/६
४३. वही, १८/४७   ४४. वही, १८/७८

जैन धर्म के मूल तत्त्व और व्यावहारिक वेदान्त

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

जैन धर्म विश्व के प्राचीनतम मुख्य धर्मों में से एक है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि जैन धर्म का उद्भव वैदिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञों में धर्म के नाम पर की जानेवाली पशुबलि के प्रति विद्रोह के रूप में हुआ था। जैन पौराणिक कथाओं में पशुबलि के विरोध के संकेत भी मिलते हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म से पुरातन भले ही न हो पर उसके समकालीन ही भारत में प्रतिष्ठित व लोकप्रिय था। इन विद्वानों के अनुसार भारत में अति प्राचीन काल से ही संस्कृति की दो समानान्तर धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं। एक वैदिक या ब्राह्मण संस्कृति तथा दूसरी श्रमण या मागधी संस्कृति। प्रथम का उद्भव सिन्धु नदी की घाटी या आधुनिक मान्यतानुसार सरस्वती नदी की घाटी में हुआ था, जबकि श्रवण नामक दूसरी मगध अर्थात् आधुनिक बिहार में पनपी। इन दोनों में कुछ मौलिक मतभेद थे, जो आज भी बने हुए हैं।

वैदिक (ब्राह्मण) संस्कृति का केन्द्र है ब्राह्मण एवं ब्राह्मणत्व, जबकि श्रमण संस्कृति का आधार है श्रमण – संन्यासी या भिक्खु। वैदिक संस्कृति में जीवन्मुक्ति को जीवन का लक्ष्य माना गया है। जीवन्मुक्त एक गृहस्थ भी हो सकता है। वह मंत्रद्रष्टा ऋषि होता है एवं हिन्दू शास्त्रों में ऐसे गृहस्थ ऋषियों के पर्याप्त दृष्टान्त पाये जाते हैं। श्रमण संस्कृति के अनुसार मोक्ष हेतु संन्यास अनिवार्य है तथा आदर्श है अर्हत् – जिसने सभी प्रकार की क्रियाओं – शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक – पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है। (चार) पुरुषार्थों में ब्राह्मण संस्कृति में धर्म को महत्त्व दिया गया है, जबकि श्रमण संस्कृति मोक्ष को अधिक महत्त्व देती है। जैन धर्म और वेदान्त के आलोचनात्मक विश्लेषण को समझने के लिये इन कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। यह भी समझ लेना चाहिए कि ब्राह्मण संस्कृति या हिन्दू धर्म तथा वेदान्त एक ही वस्तु नहीं हैं। इसी प्रकार श्रमण संस्कृति तथा जैन धर्म भी एक नहीं है। द्वितीयत: वेदान्त और जैन धर्म दोनों के ही दार्शनिक और व्यावहारिक पक्ष हैं। कुछ बातों में दोनों के बीच समानता है, जबकि कुछ बातों में अन्तर है।

वेदान्त से समान्यत: आचार्य शंकर द्वारा प्रणीत अद्वैत वेदान्त दर्शन ही समझा जाता है। वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है वेद का अन्त या सार। इस अर्थ के अनुसार वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद् में वर्णित सिद्धान्त वेदान्त कहलाएँगे। वेदान्त मुख्यत: एक दर्शन प्रणाली है, जो हिन्दू धर्म का आधार है। वेदान्त या उपनिषदों की कई व्याख्याएँ हैं, जिनके अनुसार वेदान्त के अनेक मतवाद हैं, यथा – अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि।

अब यदि हम माने कि जैन धर्म का ऐतिहासिक विरोध हिन्दू धर्म के क्रियाकाण्ड से रहा है तथा वह ब्राह्मणत्व का विरोधी है, तो उपनिषदोक्त सिद्धान्तों से जैन धर्म का विरोध नहीं होना चाहिए, क्योंकि स्वयं उपनिषदों में वेदों के क्रियाबहुल कर्मकाण्डों की निन्दा करके आत्मा के चैतन्य स्वरूप तथा उसके साक्षात्कार अथवा मोक्ष को जीवन के लक्ष्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इस मौलिक सिद्धान्त के साथ जैन धर्म का कोई मतभेद नहीं हो सकता।

जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्त एवं वेदान्त

जैन धर्म और वेदान्त दोनों ही आत्मा को मानव एवं सभी इतर जीव-जन्तुओं के वास्तविक स्वरूप के रूप में स्वीकार करते हैं। यह आत्मा देह, मन, प्राण आदि जड़ पदार्थ से पृथक् है। इन्हीं को जैन धर्म में पुद्गल कहा गया है। वेदान्त के अनुसार जीवात्मा अविद्या अथवा अज्ञान के कारण देहादि के साथ संयुक्त होकर अपना वास्तविक रूप भूल जाता है। जैन धर्म भी मिथ्यात्व को बन्धन के मुख्य कारण के रूप में स्वीकार करता है। जबकि वह अविरत, प्रमाद, कषाय और भोग (देहादि की क्रिया) को भी बन्धन के कारण मानता है।

जैन धर्म और वेदान्त दोनों में ही कर्मवाद को स्वीकार किया गया है। जैन धर्म में कर्म का अति विशद विश्लेषण पाया जाता है। पूर्वजन्म के कर्मों के कारण उत्पन्न आत्मा के बन्धन को दूर करने हेतु दो मुख्य उपाय बताए गये हैं – (१) संवर, (२) निर्जरा। संवर का अर्थ है, नये कर्म-बन्धनों को बनने से रोकना और निर्जरा का अर्थ है, पुराने बन्धनों को दूर करने का प्रयत्न करना। निर्जरा के उपाय हैं – सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र। ये तीन जैन धर्म के त्रिरत्न कहलाते हैं। जैन धर्म में तप को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। और सामान्यत: उसकी गिनती इन त्रिरत्नों के साथ चतुर्थ महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में की जाती है। सम्यक् दर्शन का अर्थ है सही सिद्धान्तों में श्रद्धा। स्वामी विवेकानन्द भी श्रद्धा को साधनों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। जैन धर्म में शुद्ध गुरु, शुद्ध देव, शुद्ध धर्म में श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहा गया है, लेकिन स्वामी विवेकानन्द अपने आप में विश्वास को कहीं अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि पुराना धर्म कहता है कि नास्तिक वह है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, नया धर्म कहता है कि नास्तिक वह है जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।

अपने आप में विश्वास की बात जैन धर्म को भी स्वीकार्य है। जैन धर्म जगत् की सृष्टि, सृजन और पालनकर्ता किसी

ईश्वर में विश्वास नही करता। वह (अपने) तीर्थकरों की ईश्वर या देव के रूप मे उपासना करता है। जैन धर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ एवं स्वप्रयत्न से तीर्थकरत्व प्राप्त कर सकता है। यह बात स्वामी विवेकानन्द-प्रणीत वेदान्त के अनुरूप ही है। स्वामी विवेकानन्द अपने शिष्यो से कहा करते थे कि तुम सभी मेरे समान ही नहीं, मुझसे भी महान् बन सकते हो।

जैन धर्म मे सम्यक् चरित्र को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। स्वामी विवेकानन्द ने भी चरित्र को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। वस्तुत: उनकी समग्र कार्ययोजना का केन्द्र-बिन्दु था – चरित्र-निर्माण। वे एक 'मनुष्य-निर्माणकारी', 'चरित्र-गठनकारी' शिक्षा चाहते थे। जैन धर्म के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन पाँच यमो को अणुव्रत या महाव्रत के रूप मे पालन करना चरित्र-निर्माण की भूमिका है। ये पॉच सद्गुण पातंजल योगसूत्र में 'यम' कहे गये है तथा सार्वभौमिक रूप से, सर्वत्र, सभी के लिये हैं। इनका प्रतिपादन स्वामी विवेकानन्द ने भी किया है। वस्तुत: श्रीरामकृष्ण इनमे पूर्णरूप से प्रतिष्ठित थे तथा वेदान्त का इनसे मतभेद कभी हो ही नहीं सकता। अन्तर केवल किसी व्रत विशेष पर अधिक महत्त्व प्रदान करने या न करने के कारण हो सकता है। जैन धर्म में अहिंसा को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है, जबकि स्वामी विवेकानन्द सत्य और ब्रह्मचर्य को अधिक महत्त्व देते है।

सम्यक् ज्ञान को वेदान्त में सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। अज्ञान का नाश ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। वेदान्त की मुख्य विधि 'ज्ञानयोग' में ज्ञानप्राप्ति ही सर्वोच्च लक्ष्य है। इस विषय मे जैन धर्म और वेदान्त में थोड़ा अन्तर है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार व्यष्टि जीव और समष्टि परमात्मा या ब्रह्म वस्तुत: एक ही है। लेकिन जैन धर्म यह मानता है कि जीव अनेक हैं और यह अनेकता सदा बनी रहती है। यह अवश्य सत्य है कि प्रत्येक जीव अपनी विशुद्ध दशा में नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध तथा नित्य मुक्त स्वभाव है।

ज्ञानयोग की मुख्य साधना है – त्वं एवं तत् पद का शोधन। त्वं पद के शोधन का अर्थ है – अपने व्यक्तिगत सीमित स्वरूप का अनुसन्धान – यह जानने का प्रयत्न करना कि "मै कौन हूँ"। ऐसा विचार करते-करते व्यक्ति स्वयं को देह, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार आदि से पृथक् करता हुआ अन्तत: अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान जाता है, जो इन सभी पुद्गलो से पृथक् है। इस प्रक्रिया तक वेदान्त और जैन धर्म मे कोई मतभेद नहीं है।

साधना की दृष्टि से जैन धर्म निवृत्तिपरक, ध्यानप्रधान धर्म है। उसमे ध्यान को सर्वोच्च महत्व दिया गया है। तीर्थकरों एवं अन्यान्य जैन सन्तों की मूर्तियाँ, चाहे वे पद्मासन में आसीन हो या खड़े हो, समान्यत: ध्यानस्थ मुद्रा में ही दर्शायी जाती है। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपनी व्यावहारिक वेदान्त की योजना में ध्यान को बहुत महत्त्व दिया है। वे स्वयं एक ध्यानसिद्ध योगी थे एवं चित्त की एकाग्रता को सभी क्षेत्रों में सफलता की सबसे महत्त्वपूर्ण कुंजी मानते थे। जैन धर्म में कई प्रकार के ध्यान बताये गये हैं तथा अननुपूर्वी जैसी कई विधियों का भी प्रचलन है, जो विक्षिप्त मन को एकाग्र करने में बहुत सहायक सिद्ध होती हैं।

जैन धर्म के दो महत्वपूर्ण किन्तु परस्पर सम्बन्धित सिद्धान्त हैं – अनेकान्तवाद और स्यादवाद। इन्होंने जैन धर्म को उदार एवं व्यापक बनाया है। इनके अनुसार किसी भी वस्तु अथवा स्थिति के अवलोकन के कई दृष्टिकोण हो सकते हैं, जो अपने अपने सन्दर्भ के अनुसार सत्य हो सकते हैं, पर ये सारे सत्य आंशिक ही होते है – पूर्ण नहीं। जिस प्रकार बहुत से नेत्रहीन व्यक्ति हाथी के भिन्न भिन्न अंगों को छूकर उसकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ करते हैं, जो आंशिक रूप से सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नही होती, उसी प्रकार विभिन्न मतवाद सत्य के बारे में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं, जो आंशिक रूप से सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नही होते – अनेकान्तवाद को स्वीकार करनेवाला कभी अनुदार नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त श्रीरामकृष्ण के 'जतो मत ततो पथ' (जितने मत उतने पथ) के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। श्रीरामकृष्ण अनेक उदाहरणों के माध्यम से यह समझाने का प्रयत्न करते थे कि ईश्वर के कई रूप हो सकते हैं और फिर वह निराकार भी हो सकता है। यही नही, उसे पाने के विभिन्न मार्ग भी हो सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक सत्य और प्रभावी हो सकता है। अत: मतवाद को लेकर झगड़ना वृथा है। बस, अपने मत को दृढ़तापूर्वक पकड़ो रहो, परन्तु दूसरे मतों की निन्दा मत करो।

व्यावहरिक वेदान्त और जैन धर्म

आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त को एक नयी दिशा प्रदान की है, जिसे 'व्यावहारिक वेदान्त' की संज्ञा भी दी जाती है। सर्वप्रथम तो उन्होंने धर्म की एक नयी परिभाषा प्रदान की –

"प्रत्येक जीवात्मा दिव्य है।

"अपनी अन्त:प्रकृति और बहि:प्रकृति के नियमन द्वारा इस दिव्यत्व को व्यक्त कर मुक्त होना ही जीवन का लक्ष्य है।

"कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा राजयोग – इनमें से किसी एक, कई या सभी के द्वारा ऐसा करके मुक्त हो जाओ।

"यही धर्म का सार-सर्वस्व है। पुस्तकें, मतवाद, मन्दिर, क्रिया-अनुष्ठान आदि अन्य बातें गौण हैं।"

क्या स्वामी विवेकानन्द प्रणीत वेदान्त के इन सिद्धान्तों के साथ जैन धर्म के सिद्धान्तों का कोई मतभेद हो सकता है? जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं – जैन धर्म भी आत्मा के चैतन्यत्व को स्वीकार करता है और उसकी मुक्ति को लक्ष्य मानता है। हमने यह भी देखा कि जैन धर्म मे राजयोग की पद्धति को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। मन्दिर-मार्गी एवं दिगम्बर जैन सम्प्रदायों में भक्ति को भी एक साधन-पद्धति माना गया है। मन्दिरों में मूर्तियों की पूजा-आराधना, स्तव का पाठ आदि का प्रचलन है और जैन भक्तों को इससे बहुत लाभ भी होता है। जैन धर्म मे ज्ञान-विचार पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है तथा जैन धर्म ने प्रकाण्ड विद्वानों को जन्म दिया है। जैन वाङ्मय का एक अतिविशाल भण्डार है।

जहाँ तक कर्मयोग का प्रश्न है, जैन धर्म में इसे वह स्थान नही दिया गया है, जो गीता में प्राप्त है। स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक वेदान्त की मूल भित्ति है – शिव ज्ञान से जीव सेवा। जैन धर्म में सेवा को वैयावृत्त नामक एक तप का स्थान दिया गया है और यह सेवा सामान्यत: साधु-साध्वियों की सेवा तक ही सीमित रहती है। जैन धर्म सभी प्रकार के कर्मो को बन्धन का कारण मानता है, भले ही गृहस्थों द्वारा दानादि क्रियाओं को श्रेष्ठ क्रियाएँ माना गया है। कर्म द्वारा चित्तशुद्धि को महत्व नहीं दिया गया है। निर्जरा का मुख्य उपाय तप है, न कि कर्म।

जिस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने क्रिया अनुष्ठान, मतवाद, मन्दिर आदि को धर्म के गौण अंगों की संज्ञा दी है, उसी प्रकार जैन धर्म भी बाह्याचरण के स्थान पर आन्तरिक भाव को अधिक महत्त्व देता है। इसे जैन धर्म में 'व्यवहार नय' और निश्चय नय' की संज्ञा दी गयी है। किसी व्यक्ति का व्यवहार भले ही अच्छा हो, लेकिन यदि उसकी नियत बुरी है, तो वह शुभ कर्म भी प्रभावशाली नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त वेदान्त के कर्मयोग से कुछ मिलता-जुलता है, जिसमे कहा गया है कि निर्लिप्त होकर कर्म करनेवाला व्यक्ति कर्म के फल से प्रभावित नही होता। जैन धर्म में हिंसा के भी दो प्रकार बताये गये है – द्रव्य हिसा और भाव हिसा अथवा मानसिक विद्वेष। इनमें भाव हिंसा को अधिक बुरा कहा गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त को नैतिकता की भित्ति बनाया है। उनके मतानुसार हमें दूसरो की सेवा इसलिए करनी चाहिए कि वे हमसे भिन्न नही हैं तथा किसी को कष्ट इसलिए नही देना चाहिए कि उसे कष्ट देना स्वयं को कष्ट देना है। भगवान महावीर ने भी यही बात कही है, "जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है; जिसे तू बन्धन में डालना चाहता है, वह तू ही है। किसी भी प्राणी को मारना स्वयं को ही मारना है; प्राणियो के प्रति दया स्वयं के प्रति ही दया है।" भगवान महावीर का यह सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का संकेत करता है।

उपसंहार

वेदान्त के अति प्राचीन होते हुए भी 'व्यावहारिक जीवन में वेदान्त' का स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अधुनातन है। वस्तुत: यह कहना ही उचित होगा कि स्वामी विवेकानन्द ने पुरातन व्यावहारिक वेदान्त की आधुनिक युग के अनुरूप एक नयी व्याख्या भर की है। उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि जैन धर्म का परम्परागत हिन्दू धर्म से व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी व्यावहारिक वेदान्त के साथ उसकी समानताएँ अधिक और मतभेद कम हैं। स्वामी विवेकानन्द प्रणीत वेदान्त की परिभाषा अत्यन्त व्यापक है। उनके मतानुसार धर्म का अर्थ वेदान्त ही है और वेदान्त के इस व्यापक दायरे में जैन, ईसाई, बौद्ध, इस्लाम – सभी धर्मो का समावेश हो जाता है। इस व्यापक परिभाषा को स्वीकार न करने पर भी, जैसा कि हम कह चुके हैं, जैन धर्म और वेदान्त में काफी समानताएँ हैं। यही नहीं, दोनों ही पद्धतियाँ परस्पर एक-दूसरे की सहायक और परिपूरक हो सकती हैं, जैसा कि होना भी चाहिए। वेदान्त जैन धर्म से कुछ सीख सकता है और जैन धर्म भी अपनी मौलिकता को अक्षुण्ण रखते हुए वेदान्त से लाभ उठा सकता है।

उदाहरण के लिये व्यावहारिक वेदान्त के 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के सिद्धान्त को जैन धर्म आसानी से आत्मसात् कर सकता है, क्योकि आत्मा के चैतन्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप में तो वह विश्वास करता ही है। दूसरी ओर आधुनिक व्यावहारिक वेदान्तवादी जैन धर्म में तप पर दिये गये महत्त्व से लाभ उठा सकते है। क्षमापना एवं नवकार मंत्र का भी अधिक व्यापक उपयोग जैनेतर वेदान्ती भी कर सकते है। संवत्सरी के दिन सभी जैन संसार के सभी प्राणियो से क्षमायाचना करते हैं तथा स्वयं भी सभी को यह कहकर क्षमा करते हैं –

खम्मामि सव्व जीवेसु, सव्वे जीवा खमयन्तु मे।
मित्ति मे सव्व भूदेसु, वेरं मे न केन वि॥

अर्थात् "मैं सभी जोवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करे। मेरी सभी से मैत्री है, किसी से भी वैर नहीं है।" नवकार मंत्र भी एक अति सुन्दर, प्रभावशाली एवं उदार मंत्र है, जिसमें संसार के सभी सन्तों, उपाध्यायो, आचार्यो, तीर्थकरों, अवतारों, पैगम्बरो एवं सिद्ध-मुक्त आत्माओं को प्रणाम किया गया है। वेदान्तियों को ऐसा शुभ मंत्र ग्रहण करने में भला क्या आपत्ति हो सकती है?

सच्चा धर्म मतभेद नहीं सिखाता। वह प्राणियों को एक दूसरे के निकट लाता है। वेदान्त और जैन धर्म – दोनों का ही उद्देश्य यही है। यही कारण है कि भारत में जैन धर्म और आधुनिक नव-वेदान्तवादियों के बीच सदा-सर्वदा मैत्री एवं सद्भाव बना रहा है और निरन्तर बढ़ता जा रहा है। ❑

स्वामी विवेकानन्द के मायावती-पदार्पण का शताब्दी-समारोह (१९०१-२००१)

सौ वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द का मायावती-आगमन और वहाँ से लौटते समय आसपास के अनेक स्थानों पर उनका पावन पदार्पण हुआ था। अद्वैत आश्रम, मायावती ने उन स्थानों के रुचि लेनेवाले लोगों तथा संस्थाओं और रामकृष्ण मिशन कलकत्ता विद्यार्थी गृह, बेलघरिया के सक्रिय सहयोग से २७ दिसम्बर, २००० से २१ जनवरी, २००१ तक इस ऐतिहासिक घटना की शताब्दी मनायी। इस दौरान निम्न कार्यक्रम आयोजित हुए –

(१) सौ वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द जिस मार्ग से मायावती आये थे, उसी का अनुसरण करते हुए यात्रा करना। रामकृष्ण मिशन के २२ संन्यासियों, ब्रह्मचारियों तथा युवा भक्तों की एक टोली स्वामी सत्यबोधानन्द जी के नेतृत्व में २७ दिसम्बर, २००० को हावड़ा स्टेशन से चली और २९ दिसम्बर को काठगोदाम पहुँचकर रात को वहीं विश्राम किया। सौ वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने जिस मार्ग से यात्रा की थी, ठीक उसी प्रकार इस टोली ने भी पैदल यात्रा आरम्भ की। इस टोली ने दिन में यात्रा करते हुए रात में उन्हीं स्थानों पर विश्राम किया, जहाँ स्वामीजी ने किया था। इस प्रकार उन लोगों ने ३० दिसम्बर को घाटी में, ३१ दिसम्बर को पहाड़पानी में, १ जनवरी को मोरनाला में, २ जनवरी को धूनाघाट में रात्रि-विश्राम किया। ३ जनवरी को दोपहर में यह टोली मायावती पहुँची, तो अल्मोड़ा, श्यामलाताल एवं स्थानीय आश्रम के संन्यासियों, ब्रह्मचारियों, भक्तों तथा अनुरागियों ने बड़े उत्साह तथा हर्षातिरेक के साथ उनका स्वागत किया। काठगोदाम से मायावती तक की इस पैदल यात्रा में इस टोली के सदस्यों ने कुछ कठिन परिस्थितियों का भी सामना किया। यथा - यात्रा के दौरान इस पर्वतीय मार्ग में कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी और कुछ स्थानों पर तो बर्फ भी गिर रही थी। दल के विश्राम-स्थलों पर स्थानीय लोगों ने अपार स्नेह, सौजन्य तथा सत्कार व्यक्त किया और अल्पाहार भी प्रदान किया। यात्री-दल के सदस्यों ने स्थानीय जन-समूहों को सौ वर्ष पूर्व हुए स्वामीजी के यात्रावृत्त की जानकारी दी और सहज व अनौपचारिक वार्ता के साथ अनेक चित्रों, पत्रकों तथा लघु पुस्तिकाओं के माध्यम से उन ग्रामों में स्वामीजी के विश्राम का विवरण प्रस्तुत किया। इसके साथ-ही-साथ उन्हें भगवान श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के सन्देश भी सुनाये गये।

एक पखवारे का प्रवास पूरा करने के बाद जिस प्रकार स्वामी विवेकानन्द जी ने १८ जनवरी १९०१ को मायावती से विदा ली थी, ठीक उसी प्रकार इस टोली के कुछ सदस्यों ने भी १८ जनवरी २००१ के दिन मध्याह्न में मायावती से प्रस्थान किया और स्वामीजी के ही मार्ग का अनुसरण करते हुए टनकपुर की ओर पैदल ही चल पड़े। इस टोली ने १८ जनवरी की रात चम्पावत में तथा १९ जनवरी की रात देवरी के निकट स्थित चल्थी में बिताई। २० जनवरी को ये लोग टनकपुर जा पहुँचे।

(२) इसी कार्यक्रम के दूसरे चरण में ४ जनवरी २००१ ई. को मायावती में स्वामी मुक्तिनाथानन्द जी के निर्देशन में एक आध्यात्मिक शिविर का आयोजन हुआ और १५ जनवरी को स्वामी मुमुक्षानन्द जी के मार्गदर्शन में युवकों के लिए एक सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक शिविर लगाया गया।

(३) स्वामी विवेकानन्द के मायावती-आगमन की शताब्दी-समारोह मनाने के लिए वापसी यात्रा के क्रम में चम्पावत, टनकपुर, खटिमा और पीलीभीत में क्रमशः १८, १९, २० तथा २१ जनवरी को सार्वजनिक सभाएँ आयोजित की गयीं। टनकपुर तथा खटिमा के तीन स्थानीय विद्यालयों में सभाएँ हुई। स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी सोमदेवानन्द, स्वामी चन्द्रशेखरानन्द, स्वामी सत्यबोधानन्द तथा स्वामी गौरीकान्तानन्द ने उपरोक्त सभाओं में व्याख्यान दिये।

(४) कार्यक्रम के अन्तिम चरण में मायावती आश्रम द्वारा सेवित फुर्ती, अण्डोली तथा बलाई ग्रामों के समस्त निर्धन परिवारों को अद्वैत आश्रम की ओर से कम्बलों का वितरण किया गया।

विश्व संस्कृत सम्मेलन

५ अप्रैल, २००१ ई. को राजधानी दिल्ली के विज्ञान भवन के भव्य सभागृह में भारत के प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने प्रदीप जलाकर विश्व-संस्कृत-सम्मेलन का उद्घाटन किया। इस शुभ अवसर पर उन्होंने कहा – "भारतीय संविधान के निर्माण के समय डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने यह कहकर संस्कृत की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया था – 'संस्कृत ही भारत की राजभाषा होने के योग्य है'। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद ने भी 'संस्कृत को सबकी भाषा' कहा था। यह संस्कृत भाषा आकाशवत् अति विशाल और सागरवत् परम गम्भीर है। इसके पाठन-पद्धति में परिवर्तन लाकर संस्कृत को जनसाधारण की भाषा बनाना चाहिये। पाण्डित वंश में मेरा जन्म हुआ, स्नातक तक मैंने संस्कृत पढ़ी, तथापि मैं संस्कृत में वार्तालाप करने में असमर्थ हूँ। ऐसी स्थिति न हो, इसलिये सम्भाषण रूप से संस्कृत का पठन-पाठन होना चाहिये।"

केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्री डॉ. मुरली मनोहर जोशी ने स्वयं विश्व संस्कृत सम्मेलन का संरक्षकत्व स्वीकार किया और निबन्ध-सत्र में स्वयं एक संस्कृत भाषा में निबन्ध प्रस्तुत किया, जिसमें ओङ्कार की प्राचीनता और भारतीय लिपियों की एकात्मकता का सबल एवं सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया था।

इस सम्मेलन में शोध-निबन्ध की प्रस्तुति, शास्त्रार्थ-सभा, विश्व संस्कृत पत्रकार-सम्मेलन और कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया। पूरे विश्व से भाग लेनेवाले ८५३ प्रतिनिधियों में से भारत के ८२० और बाकी अमेरिका, रूस, जर्मनी, जापान, कनाडा, फ्रांस आदि १७ देशों से पधारे थे।